आदर्श साहित्य माला
हिन्दी ग्रन्थावली

साहित्य और कला

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०

आदर्श साहित्य मन्दिर
ग़ाज़ियाबाद

❋ साहित्य और कला ❋

दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा बी. ए. परीक्षा में
पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत

साहित्य और कला

सम्पादक

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०

शास्त्री, सिद्धान्त शिरोमणि

हिन्दी विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली

आदर्श साहित्य मन्दिर

गाज़ियाबाद

मूल्य दो रुपया चार आना

विषय-सूची

भूमिका

साहित्य जगत् और जीवन की व्याख्या है। कला द्वारा यह व्याख्या मनमोहक, आह्लादक और सजीव बनती है। सहृदय संवेद्य साहित्य की सृष्टि सदैव कला से अनुप्राणित और परिपूर्ण होगी अतः जीवन की भांति साहित्य क्षेत्र में भी कला की उपादेयता सभी देशों के आचार्यों ने स्वीकार की है। उपयोगिता से पृथक्, कला को शुद्ध आनन्द का जनक मानने वाले भी कलाहीन साहित्य की कल्पना नहीं करते। अभिव्यक्ति को कला का रूप मानने वाले विद्वान् भी कदाचित् इसी कारण कला की स्थिति अभव्यञ्जना रूप में स्वीकार करते हैं। संक्षेप में, सजीव, स्थायी और स्वस्थ साहित्य में कला का आविर्भाव स्वतः हो ही जाता है। अतः साहित्य का अध्ययन करते समय उसकी आत्मा, स्वरूप, स्थिति और अभिव्यक्ति के प्रकारों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

प्रस्तुत संकलन साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण करने वाले विद्यार्थियों को पथ-प्रदर्शन के उद्देश्य से तैयार किया गया है। साहित्य के प्रमुख रूपों के परिचय के साथ काव्य, नाटक, गीति, कहानी आदि विविध शैलियों का अधिकारी विद्वानों द्वारा निरूपण इस संकलन की विशेषता है। इस संकलन के प्रायः सभी निबन्ध उन विद्वानों के हैं जिनका स्थान

हिन्दी साहित्य में आलोचक या कलाकार के रूप में स्वीकृत है। उच्च कक्षाओं के छात्रों को साहित्य के विभिन्न रूपों का आभास देने और उन्हें काव्य शैलियों तथा विभिन्नवादों से परिचित कराने में यह पुस्तक यदि कुछ भी उपयोगी हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

इस संकलन के लेखकों में सर्व श्री स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी बा० गुलाबराय डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी और शान्ति प्रिय द्विवेदी, प्रथम कोटि के आलोचक हैं। विभिन्न शैलियों से इन विद्वानों ने हिन्दी का समालोचना साहित्य समृद्ध बनाया है। स्व० श्री प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम कोटि के कलाकार हैं। कहानी के सम्बन्ध में उनके विचारों को इस संग्रह में इसी उद्देश्य से रखा गया है कि गल्प-साहित्य के मूर्धन्य पर आसीन इस अमर कलाकार के विचार आधुनिक कहानी के विषय में छात्रों को ज्ञात हो सके। अन्त में एक लेख समालोचना की नवीन तथा प्राचीन शैलियों के बोध के लिए लिखा गया है। आशा है 'साहित्य और कला' के समस्त निबन्धों को पढ़ कर साहित्य की गतिविधि तथा स्वरूप का यत्किंचित बोध छात्रों को हो सकेगा।

अन्त में, मैं उन सब विद्वानों का हृदय से आभार स्वीकार करता हूं जिनकी अमूल्य रचनाएं इस संकलन में प्रस्तुत की गई हैं।

सम्पादक

साहित्य की मूल प्रेरणाएं

साहित्य की गौरव-गरिमा का गायन करते हुए प्रायः लोग कहा करते हैं कि वह पृथ्वी और स्वर्ग के बीच की वस्तु है। किन्तु वास्तव में साहित्य की गति त्रिशंकु की सी नहीं है। विश्वामित्र की भांति साहित्य अपने यजमान को सदेह स्वर्ग पहुंचाने का दावा नहीं करता वरन् वह अपने योग-बल से इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की प्रतिष्ठा कर देता है। पृथ्वी से ऊपर का स्वर्ग तो बिना मरे नहीं प्राप्त होता है। किसी वस्तु को स्वर्ग की कह कर प्रतिष्ठा देना इस लोक का अपमान करना है। साहित्य इसी लोक की, किन्तु असाधारण वस्तु है और उस के मूल तन्तु जीवन से ही रस ग्रहण करते हैं।

साहित्य जीवन से भिन्न नहीं है वरन् वह उस का ही मुखरित रूप है। वह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम तरङ्ग है। मानव जाति के भावों, विचारों और सङ्कल्पों की आत्म-कथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। साहित्य जीवन-विटप का मधुमय सुमन है। वह जीवन का चरम विकास है किन्तु जीवन से बाहर उसका अस्तित्व नहीं। उस में पाचन (Assimilation) वृद्धि (Growth) गति (Movement) और पुनरुत्पादन (Reproduction आदि जीवन की सभी क्रियाएं मिलती हैं। अङ्ग अङ्गी से भिन्न गुण वाला नहीं होता। इसलिए जीवन की मूल प्रेरणाएं ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियां हैं। जो वृत्तियां जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।

जीवन की प्रेरणाएँ— जीवन की मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है। इनका विचार उपनिषद्-काल से चला आ रहा है। वृहदारण्यक उपनिषद में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा अर्थात् पुत्र की चाह, धन की चाह और लोक अर्थात् यश की चाह मानी है। ये साधारण मनुष्य की चाहें हैं। ब्राह्मण इनसे ऊंचा उठ कर त्याग का जीवन व्यतीत करता है, आत्मा को जान कर इन की चाह नहीं रहती है:—

एवं वै तदात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति।

योरुप के मनोविश्लेषण शास्त्र (Psycho analysis) का भी उदय इन्हीं प्रेरणाओं के अध्ययन के लिए हुआ। इस शास्त्र के तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं। उनके आचार्यों के नाम हैं—फ्राइड (Freud) एडलर (Adler) और युँग (Yung)।

फ्रॉइड ने प्रायः सभी क्रियाओं का मूल काम-वासना में माना है। ये वासनाएं अपने विकसित रूप में ही नहीं वरन् बाल्यकाल के अविकसित रूप में भी जीवन की क्रियाओं की मूल प्रेरक शक्ति रहती हैं। ये सामाजिक शिष्टाचार और रोक-थाम के कारण जिसको फ्रॉइड ने अङ्गरेजी में (Censor) कहा है, उपचेतना में दब जाती हैं। वहाँ से वे हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं और अपने निकास का उपाय खोजती रहती हैं किन्तु बदले हुए रूप में जिससे कि वे सेन्सर की निगाह और रोक-थाम से बची रहें।

इन निकास के मार्गों में मुख्य हैं—स्वप्न, दैनिक भूलें और हंसी-मजाक, कला और काव्य भी इन्हीं निकास के मार्गों

में से हैं किन्तु ये अधिक परिष्कृत और परिमार्जित हैं। साहित्य और कविता में वासना का उन्नयन या पर्युत्थान (Sublimation) हो जाता है। जैसे निराश प्रेम का देश-प्रेम में पर्युत्थान हो जाता है वैसे ही ईश्वर प्रेम या प्रकृति प्रेम के रूप में वह साहित्य में आ जाता है। फ्राइड से प्रभावित लोग ऐसा ही मानते हैं।

एडलर महोदय किसी अभाव या क्षति की पूर्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं। बच्चा छुटपन से ही किसी शारीरिक या परिस्थिति सम्बन्धी कमी का अनुभव करता है। उसके मन में हीनता-भाव की एक गुत्थी जिसको अङ्गरेजी में (Inferiority complex) कहते हैं बन जाती है। उसी से प्रेरित हो वह अपनी कमी को पूर्ण करने के लिए भले या बुरे उपाय काम में लाया करता है। यही क्षति-पूर्ति का भाव उसके सारे जीवन को प्रभावित करता है। इस हिसाब से साहित्य-निर्माण हमारी किसी क्षति के पूर्ति के रूप में ही होता है। इसके कुछ उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। अन्धे लोगों की कल्पना अधिक बढ़ जाती है क्योंकि वे उसी के द्वारा अपनी क्षति-पूर्ति करते हैं। अक्षिहीन सूर और मिल्टन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। विथोवियन भी अन्धा था। कबीर को अपने जुलाहे-पन का हीनता-भाव था और इसीलिए वे कह उठते थे 'तू काशी का बाम्हन, औ मैं काशी का जुलाहा' इसी के कारण उनमें कुछ अहंभाव भी बढ़ा हुआ था। वे हिन्दू-मुसलमान दोनों को फटकारते और अपने को देवताओं और मुनियों से श्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने अपनी झीनीबीनी चदरिया में दाग नहीं लगने दिया था।

जायसी को भी अपनी कुरूपता का गर्व था :—

चाँद जैसे जग विधि औतारा।
'दीन कलंक कीन्ह उजियारा ॥'

तुलसी भी शायद अपनी स्त्री की डाट फटकार से उत्पन्न हीनता भाव को दूर करने के प्रयत्न में इतने बड़े कवि बन गये। भूषण को अपनी भाभी के उलहाने को पूरा करने के लिए शिवाजी का आश्रय लेना पड़ा। एडलर ने बतलाया है कि कुटुम्ब का दूसरा लड़का अपने को जीवन की घुड़दौड़ में पिछड़ा हुआ पाता है और वह अपनी बुद्धि और प्रतिभा के बल से आगे निकलना चाहता है। भूषण के सम्बन्ध में यह बात किसी अंश में चरितार्थ होती है।

एडलर के सिद्धान्त के मूल में प्रभुत्व कामना है, दूसरों पर हावी होने की प्रवृत्ति। उसके सिद्धान्तों के अनुकूल हमारे साहित्य के विभिन्न रूप इसी प्रभुत्व-कामना के फल हैं। विज्ञान, इतिहास, काव्य सभी में प्रभुत्व-कामना की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

युंग ने काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों को जीवन-धारा के भिन्न-भिन्न पहलू माने हैं। उन्होंने जीवन धारा को ही मुख्यता देते हुए कहा है कि कुछ लोगों में काम-वासना का प्राधान्य रहता है और कुछ में प्रभुत्व-कामना का। इसी आधार पर उन्होंने मनुष्य को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी नाम के दो टाइपों या प्रकारों में बांटा है। अन्तर्मुखी लोग अपना ही ख्याल करते हैं, उनमें प्रभुत्व-कामना का प्राधान्य रहता है, वहिर्मुखी लोग दूसरों का अधिक ख्याल रखते हैं। वे अपने को दूसरों से शासित होना पसन्द करते हैं। उनमें प्रायः काम-वासना की मुख्यता रहती है, इसका अभिप्रायः यह नहीं कि सभी बहिर्मुखी लोग काम-वासना से प्रेरित होते हैं। यह मोटा

विभाजन है। प्रत्येक मनुष्य में थोड़े बहुत अंश में दोनों ही प्रवृत्तियां होती हैं। मैं ख्याल करता हूं कि अन्तर्मुखी लोग यदि कविता करते हैं तो वे व्यक्तित्व प्रधान प्रगीत काव्य की ओर अधिक झुकते हैं और बहिर्मुखी जगबीती का वर्णन करते हैं।

भारतीय दृष्टिकोण—युङ्ग मेरी समझ से भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट आता है। उपनिषदों में यद्यपि पुत्रैषणा (काम) वित्तैषणा (अर्थ) और लोकैषणा (यश) को प्रेरक शक्तियों के रूप में माना है तथापि इनको नीचा स्थान दिया है और आत्म-प्रेम को सब क्रियाओं का मूल कारण माना है। 'सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।' पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता है। वरन् आत्मा की कामना से पति प्रिय होता है। इसी प्रकार उन्होंने पुत्र और वित्त के सम्बन्ध में भी कहा है। 'न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति'। इस प्रकार आत्म-प्रेम की श्रेष्ठता दिखा कर ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मा पर विचार करने का उपदेश दिया था। काम वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों ही आत्म-प्रेम के नीचे रूप हैं। दोनों में ही आत्म-रक्षा की भावना ओत-प्रोत है। काम-वासना भी एक प्रकार की प्रभुत्व-कामना है। और प्रभुत्व-कामना काम-वासना का बदला हुआ आत्म-प्रकाशोन्मुख रूप है। हमको न आत्माओं पर प्रभुत्व की आवश्यकता है और न उनको जड़वस्तुओं की भांति कामना का विषय बनाना है। हम चाहते हैं सहृदयता और सहानुभूति द्वारा भेद-भाव को तिरोहित कर आत्मा के अखण्ड चिन्मय आनन्दमय रूप की स्वानुभूति (self realisation), यही है

अपने और पराये से परे 'न ममेति न परस्येति' वाली साधारणीकरण द्वारा प्राप्त काव्य की रसमय अवस्था जिसको ब्रह्मानन्द-सहोदर का अलौकिक रूप दिया गया है। यही आत्म नुभूति आत्म-रक्षा का क्रियात्मक रूप धारण करती है, जैसे-जैसे हम भौतिक-सत्ता की रक्षा से उठकर आदर्शों की रक्षा की ओर जाते हैं वैसे ही हमारी आत्मानुभूति बढ़ती है। हमारी सारी क्रियाएं इसी की भिन्न-भिन्न धाराएं हैं। जीवन-लालसा तो है ही, मरण-लालसा भी इसी का ही रूप है। मनुष्य किसी वृहत् स्वार्थ के लिए आत्म-बलिदान करता है और आत्म-हत्या में भी तभी प्रवृत्त होता है जब वह देख लेता है कि जीवन में उसके यश की रक्षा नहीं हो सकती है। होते सभी कार्य आत्म-रक्षा के निमित्त किन्तु आत्म-रक्षा का संकुचित अर्थ लेने से वे निन्द्य हो जाते हैं। आत्म-रक्षा जितनी उदार और विस्तृत हो उतनी ही वह श्रेयस की ओर ले जाने वाली कही जायगी। रक्षा के ही नाते भगवान विष्णु का पद देवताओं में उच्चतम है।

साहित्य भी हमारी रक्षा के भाव से प्रेरित होकर आत्मानुभूति का एक साधन बनता है। क्या विज्ञान, क्या इतिहास और काव्य सब तथाकथित अनात्म में आत्मा के दर्शन कर उसकी स्थिति-रक्षा, विस्तार और उन्नति के प्रयास हैं। विज्ञान और दर्शन द्वारा हम विश्व की व्याख्या अपने आत्मा के ही एकाकारिता सम्बन्धी नियमों के आलोक में करते हैं। हमको उन नियमों में आत्मा और अनात्मा की एकध्येयता के दर्शन मिलते हैं। अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किस को प्रसन्नता नहीं होती ? जब हम सारे ब्रह्माण्ड और एक रजकण में, कीरी और कुञ्जर में, पुष्प और पत्थर में एक ही गुरुत्वाकर्षण का नियम काम करते हुए देखते हैं तब हमको कितना आनन्द

होता है ? तर्कशास्त्र द्वारा प्रतिपादित प्रकृति की एकाकारिता (Uniformity of nature) का नियम भी आत्मा की एकता और अखण्डता का प्रतिरूप है। काव्य का आनन्द भी आत्मा के विस्तार के कारण होता है। पूर्णता में ही सुख है। 'भूमा वै सुखम्' शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध हमको आत्मा की पूर्णता की ओर ले जाता है। काव्य में आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। आत्माभिव्यक्ति अपनी आत्मा को मूर्तिमान कर अपने को विस्तार देने के कारण आनन्द की उत्पादक होती है। साहित्य द्वारा 'एकोऽहं बहुस्याम्' के प्रतिरूप हम बहु की एकत्व में पुनरावृत्ति का दृश्य देखते हैं।

साहित्य शब्द भी हम को आत्म-रक्षा के भाव की ओर अग्रसर करता है। सहित होने के भाव को साहित्य कहते हैं। 'सहितस्य भावः साहित्यं' सहित के दो अर्थ हैं एक—हितेन सह सहितं और दूसरा अर्थ है—एक साथ। हित का अर्थ है बनाने वाला--दधातीति हितं। हित में वही 'धा' धातु है जो विधाता में है और शायद इसी कारण विधाता की जाया वीणा-पुस्तक-धारिणी माता शारदा कला और विद्या की अधिष्ठात्री देवी है। वीणा कला का प्रतीकत्व करती है और पुस्तक विद्याओं का। यदि सहित का अर्थ साथ रहना इकट्ठा करने वाला लें तब भी वही भाव आता है। जो हमारे भावों और विचारों को इकट्ठा रख कर या मानव-जाति में एकसूत्रता उत्पन्न कर अथवा जो काव्य के शरीरस्वरूप शब्द और अर्थ को परस्परानुकूलता द्वारा सप्राण बनाकर मानव जाति का हित सम्पादन करे वही साहित्य है।

साहित्य के भिन्न-भिन्न रूप आत्मरक्षा के ही स्वरूप हैं।

धर्म हमारी आत्मा की वर्तमान और भावी रक्षा से सम्बन्ध रखता है। उसके द्वारा आत्मा का विस्तार भी होता है। इतिहास भूत काल को हमारे सामने लाकर हमारे पूर्वजों के क्रिया-कलाप को अतीत के गर्त में विलीन होने से बचाता है। विज्ञान अनात्म जड़ पदार्थों को हमारे मन के नियमों से बँधा हुआ दिखाकर और उनके द्वारा हमारे भौतिक सुखों का साधन कर मानव आत्मा का विजय-गान उद्घोषित करता है। काव्य द्वारा सहानुभूति की वृद्धि से आत्म-रक्षा होती है।

काव्य के प्रयोजन—साहित्य के आचार्यों ने काव्य के भिन्न-भिन्न प्रयोजन माने हैं, उनमें कुछ प्रेरणा रूप आन्तरिक है और कुछ प्रयोजन रूप बाह्य हैं। पीछे की ओर देखने से प्रयोजन प्रेरणाएं बन जाते हैं। भविष्य में स्थित प्रेरणाएँ प्रयोजन हैं। कुछ का सम्बन्ध साहित्य स्रष्टा से है और कुछ का आस्वादन करने वाले से है किन्तु बहुत अंश में भोक्ता और स्रष्टा के दृष्टिकोण मिल जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने तो आनन्द को ही मूल प्रयोजन माना है क्योंकि यह रसास्वाद का फल या पर्याय है और उसमें और सब प्रकार का ज्ञान विलीन हो जाता है। 'सकल प्रयोजन-मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तर-मानन्दं' साहित्यदर्पणकार ने काव्य को धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति का साधन बतलाकर अपने कथन की पुष्टि में भामह का निम्नोल्लिखित श्लोक उद्धृत किया है।

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिंच साधुकाव्यनिषेवणम्॥

कहीं-कहीं निबन्धनम् भी पाठ है, किन्तु 'निषेवणम्' स्रष्टा और पाठक दोनों पर लागू हो सकता है। कीर्ति का लाभ तो

अधिकतर कवि को ही होता है 'प्रीति' में पाठक और कवि दोनों का भाग है। इस श्लोक में यह भी देखने की बात है कि काव्य को कला से भिन्न माना है। काव्य द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रीति (प्रसन्नता) की प्राप्ति होती है। ये सब प्रायः बाह्य प्रेरक हैं।

काव्य प्रकाश—में जो प्रयोजन कहलाये हैं, ये उनसे कुछ विस्तृत हैं। देखिए:—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंम्मिततयोपदेशयुजे॥

काव्य यश के अर्थ, धन के अर्थ, व्यवहार जानने के लिए, अनिष्ट निवारण के निमित्त, शान्तिजन्य आनन्द और स्त्री के से मृदुल उपदेश के लिए होता है। इनमें से तीन यशसे, अर्थकृते और शिवेतरक्षतये कवि के लिए हैं और शेष सहृदय के लिए। वृत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट ने दोनों का ध्यान रक्खा है (यथायोगं कवेः सहृदयस्य च)।

यशसे—यश एक प्रधान प्रेरक शक्ति है। भगवान कृष्ण ने भी निष्काम कर्म की उक्ति को 'यशो लभस्व' से पुष्ट किया था। रघुवंशी लोग भी यश के परे न थे 'यशसे विजिगीषूणाम्' इङ्गरेजी में भी कहा है Fame is the last infirmity of noble minds अर्थात् ख्याति बड़े आदमियों की आखिरी कमजोरी है। इस पर किसी ने कहा है कि छोटे आदमियों की यह पहली कमजोरी है। कालिदास और भवभूति आदि ने काव्य, यश के लिए ही किया था। महाकवि भवभूति ने तो समान धर्मी के प्राप्त करने की प्रसन्नता के लिए लिखा था।

वे काव्य की प्रेषणीयता (Communicability) और सामाजिकता में विश्वास रखते थे।

अर्थकृते—काव्य के भौतिक प्रलोभनों में सबसे अधिक अर्थ या धन है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में धावक कवि को श्री हर्ष से प्रचुर धन मिला था। रीति काल के कविगण प्रायः धन के लिए ही राज्याश्रय खोजा करते थे। बिहारी को एक मुहर फी दोहा दी जाने की बात लोक-प्रसिद्ध है। शाहनामा के लेखक फ़िरदोसी को भी एक-एक शेर पर एक अशर्फी का वायदा किया गया था किन्तु वह उसके मरने के बाद उस समय आई थीं जबकि उसका शव जा रहा था। उसकी लड़की ने वे अशर्फियां बादशाह को ही लौटा दी थीं। इङ्गलिस्तान के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट Scat ने अपना कर्ज चुकाने के लिए वेवर्ली नोविल्स लिखे थे। किन्तु सब कवि धन के लोभ से प्रेरित नहीं होते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'स्वान्तःसुखाय' ही कविता लिखी 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' और उन्होंने प्राकृत जनों के गुण-गान के सम्बन्ध में कहा है—'कीन्हे प्राकृतजन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना' कुम्भनदासजी ने 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' कह बादशाह के निमन्त्रण को ठुकरा दिया था। किन्तु आजकल जीवन की आवश्यकताओं के बढ़ जाने के कारण बिचारे साहित्यिक को सरस्वती और लक्ष्मी के परस्पर वैमनस्य का दुखद अनुभव प्राप्त करना पड़ता है टैगोर या टैनीसन की भांति बिरले ही कवि अपनी सम्पन्नता के कारण आर्थिक चिन्ता से परे होते हैं, नहीं तो अधिकांश साहित्यिकों के यहाँ

चील के घोंसले में मांस की भांति धन का अभाव हो रहता है।

व्यवहारविदे—काव्य से लोक व्यवहार का ज्ञान पाठक को तो होता ही है किन्तु स्रष्टा को भी होता है क्योंकि लिखने से पूर्व वह अपने ज्ञान को निश्चित कर लेता है। सूर और तुलसी के काव्य में उस समय के रीति-व्यवहार का ज्ञान होता है। यह तो इसके मोटे अर्थ हैं। काव्य के अध्ययन से व्यवहार की क्षमता भी प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि काव्य के अनुशीलन द्वारा मानव-हृदय के रहस्यों का पता चलता है और इसके कारण मनुष्य को वह अनुभव प्राप्त हो जाता है जो वर्षों के पर्यटन से न मिलेगा।

शिवेतरक्षतये—अर्थात् अनिष्ट-निवारण के अर्थ जो कविता लिखी जाती थी उसमें धार्मिक बुद्धि की प्रधानता रहती थी। काव्यप्रकाश में मयूर कवि का उदाहरण दिया है जिन्होंने कि सूर्य की स्तुति कर अपने कुष्ठ रोग का निवारण किया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी हनूमान बाहुक इसी उद्देश्य से लिखा था।

आजकल लोगों को दैवी शक्तियों में तो विश्वास नहीं है किन्तु वे मानवी शक्तियों को ही उत्तेजित कर अनिष्ट निवारण करने का उद्योग करते हैं। इस युग में केवल वैयक्तिक ही अनिष्ट-निवारण नहीं किया जाता वरन् समाज और देश के कष्ट निवारण के लिए भी काव्य रचे जाते हैं। प्रगतिवाद का कुछ कुछ ऐसा ही उद्देश्य है।

सद्यःपरनिर्वृतये—काव्य का मूल उद्देश्य यही है। काव्य के आस्वादन से जो रसरूप आनन्द मिलता है उसी की ओर

इसमें लक्ष्य है। 'सहृदयस्यतु श्रवणानन्तरमेव सकलप्रयोजने-पूत्तमं स्थायिभावास्वादनसमुद्भूतं वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यं रसास्वादरूपमानन्दम्'... यद्यपि यह पाठक का लक्ष्य है तथापि इसमें वह अन्तःकरण का सुख भी शामिल है जिससे प्रेरित हो कवि काव्य का निर्माण करता है। कवि भी अपनी सृष्टि का उपभोग करता है। देवी सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री और स्त्री भी मानी गई है। यह बात इसी सत्य को प्रकट करने के लिए कही गई है। कविता को अह्लादैकमयी कहा गया है। उसकी उत्पत्ति में आह्लाद है, उत्पन्न होकर स्रष्टा को आह्लाद प्रदान करती है और फिर वही आह्लाद सहृदय पाठक में संक्रमित हो जाता है और पाठक तथा श्रोता दोनों ही व्यक्तित्व के बन्धनों से मुक्त हो एक ऐसी भाव-भूमि में पहुँच जाते हैं जहां उस विषय की तन्मयता में और किसी वस्तु का भान नहीं रहता और आत्मा के नैसर्गिक आनन्द की झलक मिल जाती है। उस अनुभव में जीवन की सारी कटुताएं, कर्कशताएं, विषमताएं वेदनाएं एक अलौकिक साम्य को प्राप्त हो जाती है। वहां अनेकता में एकता, भेद में अभेद, व्यक्ति में सामान्य के दर्शन होने लगते हैं। तभी तो लोग कहते हैं कि यदि विश्वशान्ति का कोई साधन है तो साहित्य।

कान्तासम्मततयोपदेशयुजे—काव्य में उपदेशात्मकता रहने या न रहने के सम्बन्ध में आज-कल बहुत वाद-विवाद उठा करते हैं। कोई लोग काव्य को नीति से बिल्कुल अछूत मानते हैं फिर उपदेश देने की बात कहां रही। मुन्शी प्रेमचन्द जी के ऊपर भी यह आक्षेप किया गया है कि वे उपन्यासकार का रूप छोड़ कर उपदेश का रूप धारण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उपदेश के लिए हम काव्य

को क्यों पढ़ें, धर्म ग्रंथ क्यों न पढ़ें ? काव्यकार और धर्मोप-देष्टा के दृष्टिकोण में अन्तर है। उसी अन्तर को दिखाने के लिए 'कान्तासंम्मिततयोपदेशयुजे' कहा है। शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—प्रभुसम्मितः, सुहृत्सम्मितः, कान्ता-सम्मितः। प्रभुसम्मितः शब्द में आज्ञा रहती है, वेद के विधि वाक्य इसी प्रकार के हैं, सुहृत्सम्मितः में आज्ञा नहीं रहती है, ऊंच-नीच और इष्टानिष्ट होने की बात समझाई जाती है। इतिहास पुराणादि का उपदेश इसी प्रकार का होता है। कान्तासम्मितः में स्त्री के प्रेम से मिश्रित उपदेश होता है। उस में रस होता है। काव्य का उपदेश व्यञ्जना-प्रधान होने के कारण सरस होता है। काव्य का रस कटु औषधि को मिष्ट बना देता है। 'गुड़जित्वकया शिशूनिवौषधम्' बच्चों को गुड़ मिली हुई औषधियां आजकल की शर्करावेष्टित कुनेन की गोलियां (Sugarcoated pills) की तरह काव्य कटु उपदेश को भी ग्राह्य बना देता है।

कविवर विहारीलाल का 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यह काल। अली कली ही सों बंधों, आगे कौन हवाल' वाले दोहे ने राजा जयशाह पर जादू का-सा असर किया। यदि वे लट्ठमार कोरा उपदेश देते तो शायद वे किसी षड्यन्त्र के चक्कर में पड़ कर जान से भी हाथ धो बैठते।

स्वान्तःसुखाय—तुलसी ने अपने काव्य को स्वान्तः सुखाय कहा है। 'स्वान्तःसुखाय तुलसीरघुनाथगाथाभाषानिबन्ध-मतिमञ्जुलमातनोति' स्वान्तःसुखाय से केवल उनका यही अभिप्राय है कि उनको रामगुण गाने से अलौकिक सन्तोष मिलता था। वे धन और यश के प्रलोभनों से परे थे।

वास्तव में सत्काव्य स्वान्तःसुखाय लिख ही जाता है किन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि वह श्रोताओं के लिए नहीं होता। काव्य को कहने और सुनने में सुख मिलता है लेकिन आत्माभिव्यक्ति का सुख अभिव्यक्त कर देने मात्र से समाप्त नहीं हो जाता। कवि अरण्यरोदन करना नहीं चाहता, वह अपने समानधर्मियों तक अपनी बात पहुंचाना चाहता है। भवभूति तो अनन्त काल तक ठहरने को तैयार थे। 'कालोह्य-निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' गोस्वामी तुलसीदासजी यद्यपि स्वान्तःसुखाय लिखते हैं फिर भी उनको बुधजनों के आदर की फिक्र रहती है।

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।

कवि अपने को, पाठक और श्रोताओं के साथ भाव के एक सूत्र में बन्धने का भी सुख प्राप्त करता है। साधारणीकरण में भी कला की सामाजिकता का भाव निहित रहता है। काव्य के प्रयोजनों में यदि सामाजिकता को भी स्थान दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

———

काव्य कला

काव्य भी एक कला है। यह बात बहुत तरह से कही जाती है, पर इसके अन्तर्निहित अर्थ पर विचार नहीं किया जाता, नीचे की पंक्तियों में यही प्रयास किया जा रहा है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलाओं की गणना बौद्ध पूर्व काल में प्रचलित थी ही, पर अनुमान से ऐसा निश्चय किया जा सकता है कि बुद्ध काल और उसके पूर्व भी कला मर्मज्ञता एक आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललित-विस्तर में केवल कुमार सिद्धार्थ को सिखाई हुई पुरुष-कलाओं की गणना ही नहीं हैं, ६४ काम कलाओं का भी उल्लेख है।

और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय में कलाएं नागरिक जीवन का आवश्यक अंग हो गई थीं। प्राचीन ग्रन्थों में कलाओं के नाम पर ऐसी कोई विद्या नहीं जिसका उल्लेख न हो। बौद्ध-ग्रन्थों में इनकी संख्या निश्चित नहीं है, पर चौरासी शायद अधिक प्रचलित संख्या थी। जैन-ग्रन्थों में ७२ कलाओं की चर्चा है; पर बौद्ध और जैन दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रन्थों में ६४ कलाओं की चर्चा प्रायः मिल जाया करती है। जैन ग्रन्थों में इन्हें ६४ महिला गुण कहा गया है। कालिका पुराण एक अर्वाचीन उप-पुराण है। सम्भवतः इसकी रचना विक्रम की दसवीं-ग्याहरवीं शताब्दी में आसाम प्रदेश में हुई थी। इस पुराण में कला की उत्पत्ति के विषय में यह कथा दी हुई है : ब्रह्म ने पहले प्रजापति को और मानसोत्पन्न ऋषियों को पैदा किया और उसके बाद संध्या नामक एक कन्या को

जन्म दिया। इन लोगों के बाद ब्रह्मा ने सुप्रसिद्ध मदन देवता को उत्पन्न दिया, जिसे ऋषियों ने मन्मथ नाम दिया। इस देवता को ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम्हारे बांके—लक्ष्य से कोई बच नहीं सके; इस लिये तुम अपनी इस त्रिभुवन-विजयी शक्ति से सृष्टि रचना में मेरी सहायता करो। मदन देवता ने वरदान और कर्त्तव्य भार दोनों को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उन्होंने ब्रह्मा और संध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि यह दोनों प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे। उन्हीं के प्रथम-समागम के समय ब्रह्मा के ४६ भाव, तथा संध्या के बिब्बोक आदि हाव और ६४ कलायें हुई? कला की उत्पत्ति का यही इतिहास है।

कालिका पुराण से भी यह कथा समर्थित है या नहीं, यह मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम; परन्तु इतना स्पष्ट है कि उक्त पुराण स्त्रियों की चौंसठ कलाओं का जानकार है।

श्रीयुत ए० वेंकट सुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का संग्रह करके कलाओं पर एक पुस्तिका प्रकाशित कराई है जो इस विषय के जिज्ञासुओं के बड़े काम की है। उक्त पुस्तिका में संगृहीत कला-सूचियों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं, जिनमें थोड़ी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, न्याय ज्योतिष और राज-नीति भी कला है; उचकना, कूदना, तलवार चलाना और घोड़े पर चढ़ना आदि भी कला हैं; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्या पूर्ति, विन्दुमती, पहेलिका आदि भी कला हैं; स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रङ्गना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला हैं; रत्न और मणियों को पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेघ, कुक्कुट का लक्षण जानना, चिड़ियों

की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना इत्यादि भी कला हैं; और तीतर-बटेर को लड़ाना, तोते का पढ़ाना, जुआ खेलना आदि भी कला ही हैं।

प्राचीन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि कई कलायें पुरुषों के योग्य समझी जाती थीं, यद्यपि कभी कभी गणिकायें भी उन कलाओं में पारङ्गत पाई जाती थीं। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़ सवारी आदि ऐसी ही कलायें हैं। कुछ कलायें विशुद्ध काम शास्त्रीय हैं, परन्तु सब मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि ६४ कोमल कलायें स्त्रियों के सीखने की हैं और चूंकि पुरुष भी उनकी जानकारी रख कर ही स्त्रियों को आकृष्ट कर सकते हैं इस लिये स्त्री प्रसादन के निमित्त उन्हें भी इन कलाओं की जानकारी होनी चाहिये। कामसूत्र में पांचाल की कलायें विशुद्ध काम शास्त्रीय हैं, परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची में काम-कलाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियों का भी सम्बन्ध है। उनमें लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यक हैं, बाकी कुछ नायक-नायिकाओं की विशाल क्रीड़ा में सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं। श्री० वेंकट सुब्बैया ने अपनी पुस्तिका में दस सूचियां संग्रहीत की हैं। उनमें यदि पंचाल और यशोधरा की सूचियों को छोड़ दिया जाय तो बाकी सभी में काव्य, आख्यायिका समस्यापूर्ति आदि को विशिष्ट कला समझा गया है। श्री० सुब्बैया की गिनाई हुई सूचियों के अतिरिक्त भी ऐसी सूचियां हैं, जिनमें ६४ कलाओं की चर्चा है। सर्वत्र काव्यादि का स्थान है।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आगे चल कर कला का अर्थ कौशल हो गया और भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार अपनी रुचि,

वक्तव्य-वस्तु और संस्कार के अनुसार ६४ भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र ने कला विलास नाम एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी, जो काव्यमाला (प्रथम गुच्छक) में छप चुकी है। इस पुस्तक में वेश्याओं की ६४ कलायें हैं। जिनमें अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल हैं। कायस्थों की १६ कलायें है जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात ही प्रमुख है। गाने वालों की अनेक प्रकार की धनापहरण की कौशलमयी कलायें हैं, सोना चुराने वाले सुनारों की ६४ कलायें गिनाई गई हैं, गणकों की बहुविध धूर्ततायें भी कला के प्रसंग में ही गिनाई गई हैं। और अन्तिम अध्याय में उन चौंसठ कलाओं की गणना की गई है, जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिये। इनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य-शील-प्रभाव-मान की बत्तीस कलायें हैं। दस भेषज कलायें हैं, जो मनुष्य के भीतरी जीवन को निरोग और निर्बाध बनाती हैं। और अन्त में कल्प कल्पाप में श्रेष्ठ सौ सार-कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनाई हुई इन शताधिक कलाओं में काव्य समस्या-पूर्ति आदि की चर्चा भी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने २ वक्तव्य को चौंसठ या अधिक कम भागों में विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नहीं। चौंसठ की संख्या का घूम-फिर कर आ जाना ही यह सूचित करता है कि चौंसठ कलाओं की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। जैन लोगों में ७२ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। साधारणतः वे पुरुष कलायें हैं। ऐसा लगता है कि चौंसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलायें रही

होंगी जो वात्स्यायन की सूची में हैं। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री प्रसादन और वशीकरण हैं। और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। निश्चय ही उसमें काव्य का स्थान था। राज सभाओं में काव्य-आख्यायिका आदि के द्वारा सम्मान प्राप्त किया जाता था, और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओं की अपेक्षा साहित्यिक कलायें अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थीं। घटाओं, गोष्ठियों और समाजों में, उद्यान यात्राओं में, क्रीड़ा शालाओं और युद्ध-क्षेत्र में भी काव्यकला अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठा देती है।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह काव्य कैसा होता था जो राजसभाओं में सन्मान दिला सकता था या गोष्ठी समाजों में कीर्तिशाली बना सकता था ? सम्भवतः यह मेघदूत और कुमारसम्भव जैसे बड़े-बड़े काव्य नहीं होते थे। वस्तुतः जो काव्य समाजों और सभाओं में मनोविनोद के साधन हुआ करते थे वे उक्ति-वैचित्र्य ही थे। दण्डी जैसे आलङ्कारिकों ने स्वीकार किया है कि कवित्व शक्ति यदि क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यदि काव्य-शास्त्रों का अभ्यास करे तो वह राज-समाओं में सम्मान पा सकता है।

राजशेखर ने उक्ति विशेष को ही काव्य कहा है यहां यह स्पष्ट रूप से कह देना उचित है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस मूलक प्रबन्ध-काव्यों को उन दिनों काव्य नहीं माना जाता था या उनके कर्ता सम्मान नहीं पाते थे, मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला जो कवियों को गोष्ठियों समाजों और राजसभाओं में तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति वैचित्र्य-मात्र थी। दुर्भाग्यवश ऐसे सम्मानों के वे सब विवरण हमें उपलब्ध नही हैं। जिनका ऐतिहासिक मूल्य

हो सकता था; पर आनुश्रुतिक परम्परा से जो कुछ प्राप्त होता है उसमें हमारे वक्तव्य का समर्थन हो जाता है।

यही कारण है कि पुराने अलङ्कार शास्त्रों में इसकी उतनी परवाह नहीं की गई जितनी अलङ्कारों, गुणों और दोषों की। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था और अलङ्कारों का ज्ञान उक्ति-वैचित्र्य को अधिकाधिक आकर्षक बनाने में सहायक होता था। काव्य करना केवल प्रतिभा का विषय नहीं माना जाता था, अभ्यास को भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताये हैं, (१) समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता और (२) अभ्यास अर्थात् बारम्बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनों के द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा न होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेष कर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से पत्थर के समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण के निरन्तर अभ्यासवश नष्ट हो चुका है या तर्क की आग से बुझ चुका है या सु-कविजन के प्रबन्धों को सुनने का मौका ही नहीं पा सका है। ऐसे व्यक्ति को तो कितना भी सिखाओ गधा गान नहीं कर सकेगा, और कितना भी दिखाओ अन्धा सूर्य को नहीं देख सकेगा ?

पहला उदाहरण प्रकृत्या जड़ का है और दूसरा नष्ट साधन का। यह और बात है कि पूर्व-जन्म के पुण्य से या मन्त्र-सिद्धि से कवित्व प्राप्त हो जाय या फिर इसी जन्म में साधना से प्रसन्न होकर सरस्वती कवित्व शक्ति का वरदान दे दें (कवि कण्ठा भरण १-२४) परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक है अवश्य। कवित्व सिखाने वाले ग्रन्थों का यह दावा तो नहीं

है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे; परन्तु वे दावा यह अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्ति में थोड़ी बहुत भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजों में कीर्ति पाले।

यदि हम इस बात को ध्यान में रक्खें तो सहज ही समझ में आ जाता है कि उक्ति-वैचित्र्य वाद-विजय और मनोविनोद की कला है। भामह ने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य हो ही नहीं सकता। भामह की पुस्तक पढ़ने से यही धारणा होती है कि वक्रोक्ति का अर्थ उन्होंने कहने के विषय ढंग को ही समझा था। वे स्पष्ट रूप से ही कह गये हैं कि "सूर्य अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित होरहा है, पक्षी अपने अपने घोंसलों को जा रहे हैं।" इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते; क्योंकि इन कथनों में कहीं भी वक्र भंगिमा नहीं है। दोष उनके मत से उस जगह होता है जहां वाक्य की वक्रता अर्थ-प्रकाश में बाधक होती है। भामह के बाद के आलंकारिकों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र माना है किन्तु भामह ने उसे काव्य का मूल समझा था। दण्डी भी भामह के मत का समर्थन ही कर गये हैं। यद्यपि वे वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति समझा गये हैं। सिद्धान्ततः वक्रोक्ति को निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्य का मूल समझा जाता रहा है, पर व्यवहारिक रूप में कभी भी काव्य केवल वक्रोक्ति-मूलक नहीं माना गया। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जा रहे थे। परन्तु मैंने अन्यत्र (विश्व भारती पत्रिका, खंड १, अंक २) दिखाया है कि उन दिनों रस से शरीर ही माना जाता था। सरल काव्य का अर्थ होता था शृङ्गारी काव्य। इस प्रकार यदि उक्ति-वैचित्र्य हुआ तब भी

काव्य एक कला था, क्योंकि उससे राज-सभाओं और गोष्ठियों तथा समाजों में सम्मान मिलता था और सरल अर्थात् शृंगार ही हुआ तब भी वह कला ही था; क्योंकि वात्स्यायन की कलाओं का मूल-उद्देश्य ऐसे काव्यों से सिद्ध होता था।

वक्रोक्ति काव्य का एक मात्र मूल है, यह सिद्धान्त सदियों तक साहित्य के अध्येताओं में मान्य रहा होगा यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्य इससे भिन्न भिन्न अर्थ समझते थे। नवीं या दशवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की बहुत ही महत्वपूर्ण और आकर्षक परिणति कुन्तक या कुन्तल नामक आचार्य के हाथों हुई। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वक्रोक्ति की एक ऐसी व्यापक व्याख्या की कि वह शब्द काव्य के वक्तव्य को बहुत दूर तक समझाने में सफल हो गया। कुन्तक के मत का सार मर्म इस प्रकार है—केवल शब्द में ही कवित्व नहीं होता और केवल अर्थ में भी नहीं होता, शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य अर्थात् एक साथ मिलकर भाव प्रकाश करने के सामंजस्य में काव्य होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के साहित्य में एक विशिष्टता होनी चाहिये। जब कवि प्रतिभा के बल पर एक वाक्य अन्य वाक्य के साथ एक विचित्र विन्यास में विन्यसित होता है तब एक शब्द दूसरे से मिल कर रमणीय माधुर्य की सृष्टि करता है। उसी प्रकार तद्‌गर्भित अर्थ भी उसके साथ जोड़ करके परस्पर को एक अद्‌भुत चमत्कार से चमत्कृत करते हैं। वस्तुतः ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलन और अर्थ के साथ अर्थ के मिलन से जो परस्पर स्पर्द्धि चारुता उत्पन्न होती है वही साहित्य है, वही काव्य है।

काव्य के बहुत से गुण-दोष-विवेचक ग्रन्थ लिखे गये हैं; पर सभी लेखकों ने किसी वस्तु के उत्कर्ष निर्णय में सहृदय को ही

प्रमाण माना है। अभिनव गुप्त के मत से सहृदय वही व्यक्ति है, जिनके मनरूपी मुकुर में (मनो मुकुर जो काव्यानुशीलन से स्वच्छ हो गया होता है, वर्णनीय विजय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है। वे ही हृदय-संवाद के भाजन रसिक जन सहृदय कहे जाते हैं। परन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। हृदय संवाद का भाजन कैसे हुआ जाता है ? केवल शब्द और अर्थ का निरुक्ति जानने से यह दुर्लभ गुण नहीं उत्पन्न होता। प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रूय्यक ने (सहृदय लीला) नामक अपनी पुस्तक में गुण अलंकार जीवित और परिकर के ज्ञान को सहृदय का आवश्यक गुण बताया है।

गुण और अलंकार केवल काव्य के नहीं, वास्तविक मनुष्य के। इन गुणों और अलंकारादिकों को जानने से हम आसानी से समझ सकेंगे कि सहृदय किस प्रकार कला-सुकुमार हृदय व्यक्ति होता था, और जो वस्तु उसे ही प्रमाण मानकर उत्कृष्ट समझी जायेगी उसमें उन सभी गुणों का होना परम-आवश्यक समझते हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसा काव्य वात्स्यायन को कलाओं में एक कला मान लिया गया। सहृदय लीला के अनुसार गुण दस होते हैं, यथा—

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः ॥

शरीर के अवयवों को रेखाओं की स्पष्टता को रूप कहते हैं। गौरता, श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं; सूर्य की भांति चमक वाली कान्ति को प्रभा कहते हैं, अधरों पर स्वाभाविक हंसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि को आकर्षित करने वाले धर्म-विशेष को राग कहते है। फूल के समान मृदुता और स्पर्श-सुकुमारता को आभिजात्य कहते हैं, अंगों और उपांगों से

युवावस्था के कारण फूट पड़ने वाली विभ्रम विलास नामक चेष्टायें जिनमें कटाक्ष, भुजक्षेप आदि का समुचित योग रहता है, विलासिता कहलाती हैं। चन्द्रमा की भांति आल्हादकारक वह सौन्दर्य का उत्कर्षभूत स्निग्ध मधुर धर्म जो अवयवों के उचित सन्निवेश-जन्म मुग्धिमा से व्यञ्जित होता है लावण्य कहा जाता है, अंगोपांगों की असाधारण शोभा और प्रशस्तता कारण भूत औचित्यमय स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है; वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यता के कारण वक्रिमत्त्वरकाथिनी होती है अर्थात् बाह्य शिष्टाचार, विक्रम-विलास और परिपाटी को प्रकट करती है, जिसमें ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान,नृत सुभाषित आदि में वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होता है छाया कहलाती है; सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमें स्वाभावतः वह रञ्जक गुण होता है, जिसमें सहृदय जन स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर आकृष्ट होते हैं, उसी प्रकार सुभग के आन्तरिक वशीकरण धर्म विशेष को सौभाग्य कहते हैं। ये दस गुण विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं, जन्मान्तर के पुण्य फल से मिलने हैं। अलङ्कार सात ही हैं—

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डनं द्रव्य योजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तेवैते मयामताः॥

वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, कर्केतन, पुलक, रुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक, प्रवाल ये तेरह रत्न होते हैं। वराह मिहिर की बृहत्संहिता में इनके लक्षण दिये हुये हैं। भीष्म के स्थान में उससे विषमक पाठ है। शब्दार्थ चिन्तामणि के अनुसार यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त में पाया जाने वाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे में बृहत्संहिता (अध्याय ८०) देखनी चाहिये। हेम सोने को कहते

हैं। प्राचीन ग्रन्थ में यह नौ प्रकार का बताया गया है। जाम्बूनद, शातकौंभ, हाटक, वैणव, जङ्गा, शुक्तिज, जातरूह, रसविद्ध और आकरोद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नों और नौ प्रकार के सोने से नाना प्रकार के अलंकार बनते हैं। ये चार श्रेणियों के होते हैं—(१) आवेध्य, (२) निबंधनीय, (३) प्रक्षेप्य और (४) आरोप्य।

ताड़ी, कुण्डल, कान के बाले आदि अलंकार अंगों को छेदकर पहने जाते हैं, इसलिये आवेध्य कहलाते हैं. अङ्गद (बाहूमूल में पहना जाने वाला अलंकार) श्रोणी-सूत्र (करधनी आदि), चूड़ामणि प्रभृति बाध कर पहने जाते हैं इसलिये उन्हें निबंधनीय कहते हैं; अर्भिका, कटक, मंजीर आदि अंग में प्रक्षेप-पूर्वक पहने जाते हैं इसलिये उन्हें प्रक्षेप कहते हैं; झूलती हुई माला, हार, नक्षत्रमालिका आदि अलंकार आरोपित किये जाते हैं, अतएव यह आरोप्य कहलाते हैं। वस्त्र चार प्रकार के होते हैं, कुछ छाल से (क्षौम) कुछ फल से (कार्पास) कुछ रोओं से रांकव और कुछ कीटों के कोश से (कौशेय) बनते हैं। इन्हें भी तीन प्रकार से पहनने की प्रथा है—पगड़ी साड़ी आदि निबंधनीय हैं, चोली आदि प्रक्षेप हैं, उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य हैं। वर्ण और सजावट के भेद से ये नाना भांति के होते हैं। सोने और रत्न से बने हुये अलंकारों की भांति माल्य के आवेध्य, निबंधनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य ये चार भेद होते हैं। प्रत्येक भेद में ग्रथित और अग्रथित रूप से दो-दो उपभेद हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर माल्य के आठ भेद होते हैं—वेष्टित, विस्तारित, संधास्य, ग्रंथिमत्, उद्वर्तित, अवलम्बित, मुक्तक, और स्तबक। कस्तूरी, कुंकुम, चंदन, कर्पूर, अगुरू, कुलक, दन्तसम, पटवास, सहकार, तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अञ्जन,

गोरोचना आदि से मण्डल द्रव्य बनते हैं। भ्रूघटना, केश-रचना, जूड़ा बांधना आदि योजनामय अलंकार हैं। प्रकीर्ण अलंकार दो प्रकार के होते हैं (१) जन्य और (२) निवेश्य। श्रमजल, मदिरामद आदि जन्य हैं और दूर्वा, अशोक, पल्लव, यवांकुर, रजत, त्रपु, शंख, तालदन्त, दंतपत्रिका, मृणालवलय, करक्रोड़नादिक निवेश्य हैं। इन सब के समवाय को वेश कहते हैं। यह देशकाल की प्रकृति और अवस्था के सामंजस्य के अनुसार शोभनीय होता है। इनके उचित सन्निवेश से रमणी-यता वृद्धि होती है। परंतु अलंकार इतने ही नहीं हैं। ये यत्नक अलंकार हैं। अंगज, अयत्नज और स्वभावक तीन अलंकार और होते हैं। भाव, हाव और हेला अंगज अलंकार हैं। शोभा, कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये अयत्नज अलंकार हैं और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल-किञ्चित, मोट्टापित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावक अलकार हैं। इनका लक्षण दशरूपक आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये। शोभा का जीवित या प्राण यौवन है और निकट से उपकारक परिकर। इनका विस्तार रीति-ग्रन्थों में मिलेगा।

इस प्रकार के सहृदय के चित्र जो कविता तन्मय कर सके वह अवश्य ही वात्स्यायन की स्त्री प्रसादिनी और वशीकारिणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुतः जिन दिनों काव्य को कला कहा गया था उन दिनों उसके इन्हीं दो गुणों का प्राधान्य लक्ष्य किया गया था उन दिनों उसके इन्हीं दो गुणों का प्राधान्य लक्ष्य किया गया था (१) उक्ति-वैचित्र्य और (२) सहृदय-हृदय रञ्जन। ज्यों-ज्यों अनुभव का क्षेत्र और विचार का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया त्यों-त्यों कला की परिभाषा भी व्यापक होती गई और काव्य का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया।

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं, इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुंचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुन कर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुन कर कवितागत रस के अनुसार, दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि के भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर-रामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रु-पात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता का ही प्रभाव है।

रोम, इंगलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के

सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ ग़दर मचा दिया है। अतएव कविता एक साधारण चीज़ है परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता, तभी तक कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।

कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का का चित्त जितना आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नए कवि होते हैं वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिये। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर देते तो उसकी कविता

हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे, परन्तु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता रस ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है।

सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है वहां इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिये। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिये। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से संतोष करना उचित है।

खुशामद के ज़माने में कविता की बुरी हालत होती है, जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है, वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियां असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुंचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार ज़रूर माना है, परन्तु आभावोक्तियां भी क्या कोई अलंकार है ? किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्त हो सकता है ? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छंटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइये, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रंगा हुआ पाइयेगा।

इश्क भी सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी सांसें लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग जलाना सब सच है ? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है ? फिर क्यों इस तरह की कविता संकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके हैं जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं ? वही तुक वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक ! इसपर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं ! कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-शिख, नायिका-भेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ असलियत काफ़ूर होगई है।

'कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा के परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़

जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं उलटा अवनति होती जाती है।

कविता प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं कि वह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छन्दप्रभाकर" में दिये गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनको समझ में कविता है और सब कोरी कांव कांव ?

इसी तरह की नुक़ता-चीनी से तङ्ग आकर अङ्गरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कवित ! यह बेक़दरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उलटा सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है; पर जब मैं अकेला होता हूं तब तुझपर मैं घमण्ड करता हूं। याद रख

तेरी उत्पत्ति स्वभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर आनन्द से रह सकते हैं, पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवा न कर के अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वह भेद है जो 'प्ोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरञ्जक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली हुई शब्द स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं, और संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है, देखो संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो।

अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गये हैं। वहां भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिल्कुल ख्याल नहीं था। अंगरेजी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है, हां एक बात जरूर है कि वजन और क़ाफिये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है पर कविता के लिये ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण।

यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका न होना निष्फल ही समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िये वग़ैरह की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि के ढूंढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िये और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रता से नहीं प्रकट करने देते। क़ाफ़िये और वज़न के पगले ढूंढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधानता को अप्रधानता प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर ही जाता रहता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज-कल हिन्दी के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़ कर समझते हैं कुछ सम्पादक के खिलाफ़ नाटक, प्रहसन और व्यंगपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शान्त करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना या इमैजिनेशन (Imaginaton (की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसीलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा ही को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती, इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी ऐसी अद्भुत अद्भुत बात कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुंच वहां तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर छोर नहीं, वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में यह अजीब-अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षायें भी ग्रहण करता और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुंचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक

दृष्टि और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिये। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार-तरंगें उसके मन में उठा सी करती हैं। इन विकारों की जांच, ज्ञान का अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है।

जिसे कभी पुत्र शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से द्रवीभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनो-विचारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ठ ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार वा दृश्य के वर्णन में ढूंढ-ढूंढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिये जो सुनने वालों की आंखों के सामने वर्ण्य विषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता; तो कम जरूर हो जाता है। इसी लिये कवि को चुन चुन

कर ऐसे शब्द रखने चाहिये, और इस क्रम से रखना चाहिये, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े।

मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्ति शब्द-स्थापना के बिना कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिये कि जिसके पास काफ़ी शब्द-समूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिये। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है, वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनके भाव को प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अङ्गरेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुणों का वर्णन किया है। उनकी राय है कि कविता सादी हो जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो किन्तु विचार परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में ही न आवें, या देर से समझ में आवें। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझाने में गहरे विचार की जरूरत हो।

कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़-सुथरी सड़क बनानी चाहिये जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खंदक कांटे और झाड़ियों का नाम भी न हो। वह खूब साफ़ और हमवार हो जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क के जरा भी ऊंची-नीची होने से पैर गाड़ी के सवार को

दचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी भी नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ़ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों प्राकृतिक दृश्य की नई-नई झांकियां आंखों को लुभाती हों।

दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुये हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भावों और अटपटे शब्दों का प्रयोग करने वाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक-मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिये कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊंचा क्यों न हो, उसे पेचीदा न होना चाहिये। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिये जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिये। जो मुहावरा सर्व-सम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिये। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो इनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं

समझना चाहिये। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूलरूप में लिखना ही सही समझते हैं, पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने से यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव छूटा न हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ़ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिये क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियां ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नए सांचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है।

शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिये। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और क्रम से शब्दों का प्रयोग करते

हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिये। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिये जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जो बातें सम्भव हैं, वे ही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानों उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुंह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न ज़ाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक हो जाता है।

वर्ण्य-वस्तु को देख कर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिये विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढङ्ग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब ज़ोरदार और जोशीले हों। सम्भव है शब्द ज़ोरदार न हो पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है, और पढ़ने या सुनने वाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना चाहते हैं वे ही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिये।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुंह से सहसा यह उक्ति निकलती है, ऐसे ही कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है।

छायावाद की परिभाषा

आज से बीस पच्चीस वर्ष पूर्व युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाववृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त योरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन सा आ गया था। जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशायें लगाये बैठी थी वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषायें उड़ने के लिए पङ्ख फड़फड़ा रहीं थीं। भविष्य की रूप रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उनके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी कान में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल

सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहां से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद के आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चञ्चल हो रहे थे। परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी, अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय, और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनायें कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्ण—अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थी—कोलाहल के जीवन से भाग कर प्रकृति के चित्रित अञ्चल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहम कर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कह कर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन का रूप नहीं है।

वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति छायावाद की मूल-

वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

—व्यक्तिवाद—

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक विषय पर विषयी की मानसा का आरोप, अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रंग कर देखना। दूसरा—समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे उस कविता का विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था। द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय अन्तरङ्ग व्यक्तिगत जीवन हुआ। छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसाद में आनन्द भाव, निराला में अद्वैतवाद, पन्त में आत्मरति और महादेवी में परोक्ष रति के रूप में प्रकट हुआ।

—शृङ्गारिकता—

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से, और व्यक्तिगत कुण्ठाएं प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।

स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था। परन्तु सुधार-युग की कठोर

नैतिकता से सहम कर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतङ्क अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनायें अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान वे अवचेतन में उतर कर वहां से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होते रहती थीं। और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृङ्गार।

छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृङ्गार दो प्रकार व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा, प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा। दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अङ्गों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्क समझकर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिये हैं; और वस्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप रङ्ग का वैभव इन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने के कारण छायावाद की काव्य-सामग्री अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-तत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है।

यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मान कर ऐसी चेतन सत्ता माना है, जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया चित्र उठें उनका चित्रण है।

जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है, वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुंच कर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहां दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त स्निग्ध विश्राम भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सकता प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनायें बार बार उसी के मधुर अञ्चल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

—मूल दर्शन—

जैसा सुश्री महादेवी वर्मा ने कहा है, छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद है—प्रकृति के अन्तर में प्राण-चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक क्रियाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित-जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातन से चली आ रही है।

छायावाद में समस्त जड़ चेतन को मानव चेतना से स्पन्दित मान कर अंकित किया गया है, और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रम का भेद है। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं, यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्ष का निषेध करना है। और इसका प्रमाण यह है कि पल्लव, नीहार, परिमल, आंसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आज के बुद्धिजीवी कवि के लिये वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिये सहज सम्भव नहीं है, और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि गत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदयों से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उन पर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं

किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्था में तो कोई विशेष परिष्कृति भी सम्भव नहीं थी—वह उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनायें अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय आध्यात्म-दर्शन के सहारे, अथवा, पन्त देश-विदेश के भौतिक सर्वहितवादी दर्शनों के आधार पर, उसे परिशुद्ध एवं संस्कृत भले ही कर पाये हों, परन्तु आरम्भ से ही कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृति पर मानवता का आरोप कम से कम आरम्भ में तो निश्चय ही अनुभूति का तत्व न होकर अभिव्यक्ति का प्रकार था। शृंगार और स्वच्छन्दता की भावनायें जिन्हें परिस्थिति के कारण अनुरोध से प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था, प्रकृति के रूपकों से अन्योक्ति आदि के द्वारा व्यक्त होती थीं। बस इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्ति की कोई भी मनो-वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवाद का बुद्धि द्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूति के लिय उस समय छायावाद के किसी भी कवि को चैलेञ्ज किया जा सकता था।

उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था, जो एक विशिष्ट परिस्थिति मे विशिष्ट संस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी, प्रगतिवादी की तरह किसी ठोस वज़नी बौद्धिक जीवन-दर्शन से मन को टकरा कर प्रेरणा नहीं ली जा रही थी।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरङ्ग-जीवन से सिमट कर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासायें-- जीवन और मरण

सम्बन्धी-काव्य में आजाना सम्भव ही था; और वे आईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार से जिज्ञासायें ही हैं। वे धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मन भी छलना पर ही आश्रित हैं।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। नीरजा के विषाद और निशा-निमन्त्रण के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निराशा भी अननुभूत होने के कारण श्रान्त और जर्जर नहीं हो गई थी; वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छायावाद के चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेम का यही व्याख्यान है।

—भ्रान्तियां—

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रान्तियां हैं।

पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे।

यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल होगया है तो भी छाया-

वाद के कतिपय कवि और समर्थक छयावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिंतन का मृगचर्म उतारने को तय्यार नहीं हैं। रामकुमार जी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवी जी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे बिना उसका महत्व समझने में असमर्थ हैं। यहां तक कि स्वयं महादेवी जी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इस के विरोध में, जैसा मैंने अभी कहा एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहां तक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वास से भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथातथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रान्तियों का पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलाई हुई है जो मूलवर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूँ—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को योरुप के रोमांटिक काव्य सम्प्रदाय से अभिन्न मान कर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुंठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भूला जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहां छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहां रोमांटिक योरप के पीछे फ्रान्स का सफल विद्रोह था जिसमें जनता की

विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फल स्वरूप वहां के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छाया-वाद को शैली का एक तत्त्व मात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भांति छाया-वाद शैली का एक प्रकार मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्ल जी की वस्तु-सीमित दृष्टि जो वस्तु और अभिव्यञ्जनावाद में निश्चित अन्तर मान कर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़ कर जो जान बूझ कर शैली गत प्रयोगों को लेकर चले हैं कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यञ्जना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यञ्जनावाद और प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं। उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचार-धारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिये अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य्य है और जहां अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है वहां काव्य टेकनीक मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। इसके पीछे अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है: जीवन के प्रतिएक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।

जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण का आधेय नव जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है रूप-विधान अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्त्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहां से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठा को प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती।

प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है, जिसके लिये यह जीवन और जगत् अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है? इस के अतिरिक्त, संसार का अधिकांश काव्य कुंठाजात ही तो है। उसकी तीव्रता, उसके वैभव-विलास का जन्म प्रायः कुंठा से ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरान्त छायावाद को अधिक से अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही। जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य-चेतना जगा कर एक वृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रख कर उसको

इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव वीचियों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुंठाओं को अनन्त रङ्ग वाले स्वप्नों में गुद-गुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये।

जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया चित्रों से जगमग कर दिया, और अन्त में जिसने कामायनी का समृद्ध-रूपक पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीलेगीत, परिमल और अनामिका की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है! उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

———

प्रगतिशीलता

आज हमारे साहित्य में एक नया प्रगतिशील आन्दोलन आरंभ हो चुका है। साहित्य के सभी नये आन्दोलन एक अर्थ में प्रगतिशील कहे जा सकते हैं क्योंकि किसी-न-किसी नई सामाजिक या सांस्कृतिक प्रकृति से उत्पन्न होते और किसी-न-किसी नवीन प्रगतिशील विचारधारा के सहचर हुआ करते हैं। इस दृष्टि से हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षों में तीन प्रगतिशील आन्दोलनों का सृजन—संचालन कर चुका है। यहां मैं उस चौथे की चर्चा नहीं करूंगा जो इन तीनों से पहले का, हिन्दी के नवयुग का प्रथम आन्दोलन था और जिसके पुरस्कर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि थे। मैं कहना यह चाहता हूँ कि इन तीन चार प्रगतिशील आन्दोलनों के रहते अपने अति नवीन आन्दोलन का नाम 'प्रगतिशील' रखना विशेष उपयुक्त नहीं हुआ। इस नामकरण से भ्रम होता है कि हमारे पहले के आन्दोलन प्रगतिशील नहीं थे। प्रगतिशील ही नहीं वे प्रचलित साहित्य-सरणियों के विरुद्ध विद्रोहात्मक भी थे। ऐसी अवस्था में केवल इस अंतिम आन्दोलन का नाम 'प्रगतिशील' रखना कुछ ऐसा प्रेम है जैसे पुत्र अपना नाम पिता के नाम पर रख ले।

फिर, मेरे विचार से किसी साहित्यिक आन्दोलन का प्रगतिशील होना ही काफ़ी नहीं है। प्रगति तो प्राकृतिक गति है। वह परिवर्तनशील वस्तु व्यापार का आवश्यक परिमाण है। तो क्या परिवर्तन का प्रतिबिम्ब होना ही साहित्य का एकमात्र स्वरूप या लक्ष्य है? मेरे विचार से नहीं। प्रथम तो

परिवर्तन की सारी दिशाओं का परिज्ञान होना चाहिए। विकासमूलक शक्तियों और दिशायों की पहचान होनी चाहिए। तभी हम कृत्रिम साधनों से (जिसके अंतर्गत मानसिक रूढ़ियां, संस्कार और बाहरी सामाजिक अथवा राजनैतिक शक्तियां भी शामिल हैं।) रोके हुए आवश्यक परिवर्तन को साहित्य द्वारा उद्घाटित कर सकेंगे और साथ ही कृत्रिम साधनों से बढ़ाए हुए अनावश्यक परिवर्तन या विच्छेद को रोक भी सकेंगे।

यहाँ आप पूछेंगे कि साहित्यिक को इस प्रकार के बुद्धि-व्यवसाय या विवाद में पड़ने की आवश्यकता क्या है ? वह तो भावजगत् का प्राणी है। वह यदि अपने भावों को सौन्दर्य-पूर्ण साहित्यशैली से प्रकाशित कर देता है तो उसके लिए इतना ही पर्याप्त होना चाहिए, मैं इसे नहीं मानता। साहित्य केवल व्यक्तिगत भावों के प्रदर्शन की भूमि नहीं हो सकता। व्यक्तिगत भाव भी आखिर क्या है ? उस व्यक्तिविशेष पर पड़े हुए विभिन्न ज्ञात-अज्ञात उपकरणों का प्रभाव। वे उपकरण उसे कहाँ से मिले ? अपने समय के समाज और सामाजिक चेष्टाओं से। तब प्रश्न यह है कि वह उस समाज और उन चेष्टाओं को आँख मूंद कर क्यों ले। आँखें खुली क्यों न रक्खे और क्यों न अपने सामूहिक उत्तरदायित्त्व को समझें। यह केवल एक उत्तरदायित्त्व ही नहीं है, व्यक्तित्त्व का उन्नायक साधक भी है। फिर यह ऊपर से लदा हुआ बोझ भी नहीं है, यह मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने की स्वाभाविक सूचना है।

व्यक्ति और समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं, उत्थानमूलक भी बनाने में उपयोगी सिद्ध होगा। यदि

हमने अनुकृति के आधार पर अथवा प्रतिरोध करने की क्षमता के अभाव के कारण कुछ विश्वासों, प्रभावों या अनुभावों को धारण कर रखा है तो स्पष्ट है कि हममें साहित्यिक उत्कर्ष की सम्भावना बहुत थोड़ी है यह असम्भव नहीं कि इन व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर हम ऐसे साहित्य का निर्माण करें (बशर्ते हममें कुछ काव्यशक्ति है) जो कुछ दिनों तक बहुत काफी लोकप्रिय हो जाय, क्योंकि जन साधारण तो अपना प्रतिबिम्ब ही साहित्य में देखना चाहता है और अक्सर ढाल की ओर चलने में उसे सुविधा मालूम देती हैं, पर देश और जाति के स्थायी साहित्य में यह नीचे की ओर लुढ़कना स्थान न पा सकेगा।

आप यह न समझें कि मैं साहित्य के लिए किसी रूढ़िबद्ध ऊंची नीति अथवा आदर्शवाद की सिफारिश कर रहा हूँ। ऐसा करना बिल्कुल ही मेरा लक्ष्य नहीं है। किसी बंधी-बंधाई लीक अथवा नपे-जुखे आदर्शों के पैमाने पर साहित्य की प्रगति और उसका उन्नयन नहीं हो सकता। बदलते हुए समय के साथ प्रगति का मार्ग भी बदलेगा। हमारे आदर्शों में भी परिवर्तन और उलट-फेर होंगे। मेरा आग्रह केवल इतना है कि हम आँख मूंद कर किसी वस्तु को न लें। न हम आए हुए प्रभावों अथवा नवीनता के झोंके में बह जाएं और न विगत आदर्शों का स्वप्न देखते रहें। निराशा के लिए निराशा की फुलझड़ियाँ बरसाना हम साहित्य में बन्द कर दें और साथ ही आकाश कुसुमों की आशा भी छोड़ दें।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि साहित्य से करुण-रस को अथवा ऊंची आदर्शात्मक कल्पनाओं को उठा देना होगा। उठाना या बैठाना हमें किसी को नहीं, साहित्य में आशा और

निराशा, करुणा और वीर सब के लिए समान स्थान है और रहेगा, किन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त करनी होगी, निरुद्देश और अस्तव्यस्त नहीं। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक अथवा भवभूति का उत्तररामचरित करुणा से भरे हुए हैं किन्तु क्या वे शक्तिहीनता और निर्बलता उत्पन्न करते हैं ? नहीं वे हमारी भावना का इस प्रकार स्पर्श करते हैं कि उनसे जीवन के सुन्दर लक्ष्यों के प्रति आस्था बढ़ती है। इसी उन्नयिनी परिपाटी की रक्षा हमें करनी होगी और यह तब होगा जब हम साहित्य की प्रगति को जीवन के साथ संबद्ध किये रहेंगे।

साहित्य के साथ जीवन को संबद्ध किए रखने का मतलब सिर्फ इतना है कि जीवन संबंधिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय। हम मृत्यु के अथवा प्रगति के उपासक न बन जायं। निराशा और आत्मपीड़न को अर्घ्य न देने लगें। इसका यह आशय नहीं कि साहित्य में निराशामूलक प्रवृत्तियों का चित्रण ही न किया जाय; किया वह अवश्य जाय पर आदर्श बनाकर नहीं, रचनाकार स्वयं उनसे अभिभूत होकर जीवन का लक्ष्य न छोड़ दे। जीवन का लक्ष्य है जीना। जीना जितना ही व्यापक और समुन्नत स्वरूप धारण कर सके उतनी ही साहित्यकार को कृतकार्यता होगी। यहाँ फिर कहूँगा कि जीने का व्यापक और समुन्नत स्वरूप कोई रूढ़िबद्ध वस्तु नहीं है, किन्तु वह सचेत संतत विकास है।

अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब सारा समाज निराश के गर्त में गिरा हुआ है तब वह आशा के गीत कैसे गाए ? मैं आशा के गीतों का आग्रह नहीं करता। मेरा आग्रह केवल इतना है कि हम आत्मविस्मृत न हों, यह जाने रहें कि

हम संप्रति निराशा के गर्त में गिरे हुए हैं। किन्तु यह स्थायी गिरना नहीं।

क्या इस सूत्र को मैं बुद्धिवाद या बुद्धिसूत्र कहूँ? बहुत व्यापक अर्थ में इसे यह नाम दे सकूंगा। आप पूछेंगे व्यापक अर्थ से मेरा आशय क्या है। आशय यह है कि वाद के रूप में बुद्धिवाद कुछ मोटी रेखाओं के भीतर घिरा है। साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास में ऐसे युग आए हैं और आ सकते हैं जिसमें यह मोटी रेखाओं वाला बुद्धिवाद सहायक नहीं हुआ या न हो (उदाहरण के लिए बुद्धिमूलक के बदले विश्वास-मूलक प्रगतियां भी हुई हैं) किन्तु प्रगतिशील चेतना के रूप में बुद्धि सदैव विकास के साथ रही है।

यदि इस सूत्र के कुछ बाहरी निदर्शन या दृष्टान्त आप चाहें तो मोटे तौर पर मैं नीचे के निदर्शन दूंगा। १ अति शृंगारोन्मुख प्रवृत्तियां (Morbidity) प्रगति के विरुद्ध हैं। २—अति उदासीन प्रवृत्तियाँ प्रगति मूलक नहीं। ३—केवल कौतूहल प्रगति की बड़ी वस्तु नहीं। ४—केवल मनोरंजन प्रगति के लिए पर्याप्त नहीं। ५—बाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्व रखते हैं। ये दृष्टान्त में साहित्यिक इतिहास के आधार पर दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि ये वैज्ञानिक भी हैं।

यह तो हुआ प्रगतिशील साहित्यिक का प्रथम सूत्र। इसे मैं आत्मचेतना अथवा जीवचेतना के नाम से पुकारूंगा। इसके अभाव में साहित्य सच पूछिए तो साहित्य-पद का अधि-कारी नहीं होता। वह क्षयशील कला भी क्या कला कहला सकती है जो मृत्यु, आत्मपीड़न अथवा जीवनशोषण की ओर प्रगतिशील हो? इसके उत्तर में संभव है कुछ लोग कहें कि

जीर्ण जीवन की अनिवार्य समाप्ति मृत्यु में ही होगी और नवीन जीवन का उद्भव उसके पश्चात् ही होगा। जीर्ण जीवन का अन्त ठीक है किन्तु क्या वह मृत्यु हमारा आदर्श हो सकती है? आदर्श तो हमारा जीवन ही होगा। क्षय के लिए क्षय और मृत्यु की वरेण्यता हम किसी प्रकार प्रतिपादित नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में हम ह्रासोन्मुख या जीवन-विघातिनी कला को कला कहकर प्रशंसा नहीं कर सकेंगे।

प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र है परिवर्तन के क्रम को समझना, नवीन समस्याओं के संपर्क में आना और नवीन ज्ञान का उपयोग करना। यह भी जागरूक और दृष्टिसंपन्न साहित्यिकों के ही वश का काम है जो कवि सामयिक जीवन की जितनी ही महान् हलचलों के बीच से गुजरेगा और साथ ही जितना ही अनुभव-प्रवण होगा उसकी साहित्यिक संभावनाएं उतनी ही विशाल होंगी। अपनी प्रशस्त कल्पना के द्वारा जो वर्तमान हलचलों का यथार्थ स्वरूप और आगम की झलक जितनी स्पष्टता से देख सकेगा वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होगा। रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र की बड़ी प्रशंसा भारतीय साहित्य में इतनी अधिक क्यों है? केवल इसलिए नहीं कि उनमें ऊंचे दर्जे की काव्य प्रतिभा है या थी, परन्तु इसलिए भी कि वे परिवर्तनशील समय और उनकी आवश्यकताओं का निरूपण साहित्य में औरों से पहले कर सके। सामने आई हुई और आगे आने वाली समस्याओं को पहचानने और उनका हल ढूंढ़ने में वे औरों से पहले समर्थ हुए। न उन्होंने कृत्रिम समस्याओं या अनावश्यक आशंकाओं का सृजन किया और न आए हुए प्रश्नों से मुंह मोड़ा। उन समस्याओं और

प्रश्नों का उन्होंने सुन्दर साहित्यिक निरूपण किया और उनका सही हाल बतलाया।

यह प्रगतिशीलता समय-सापेक्ष्य है। आज की हमारी समस्याएं वे ही नहीं हैं जो पचीस साल पहले थीं; कुछ चीजों का नाम लेना भी उस समय सम्भव न था जिनका आज खुले-आम व्यवहार होता है! लिबरल राजनीति अपने समय की प्रगतिशील राजनीति थी, किन्तु क्या आज भी उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है? किसी समय में वह व्यवहारिक वस्तु थी; आज वह पिछड़ी हुई; समझी जाती है। किन्तु इस कारण उसका ऐतिहासिक मूल्य नष्ट नहीं होता। जिस समय राजनीतिक चेतना उच्च-मध्य वर्गों तक सीमित थीं उस समय लिबरल राजनैतिक क्रियाशील वस्तु थी, आज वह निष्क्रिय जान पड़ती है। राजनैतिक चेतना का विकास हो रहा है, वह क्रमशः प्रसरित होकर निम्नतम वर्गों में भी पहुंच जायगी। उस समय की राजनीति हमारे आज के प्रयासों को क्या कहेगी, इसकी हम केवल कल्पना कर सकते हैं। व्यवहार में तो हमें आज की अवस्था देखनी होगी। हमारा झुकाव किस ओर है, यही हमारे लिए निर्णयात्मक वस्तु है। साहित्य में तो झुकाव भी कोई अनिवार्य वस्तु नहीं। हम किस दिशा में क्रियाशील हैं और किन प्रश्नों को कितनी सफ़ाई के साथ और कितने प्रभावशाली रूप में सामने रख रहे हैं, इतना ही समझ लेना पर्याप्त है। इसके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि किस प्रश्न पर हमारी नजर कब पड़ी है। हमसे पूर्व औरों ने इस प्रश्न को उठाया है या नहीं, उठाया तो क्या समाधान किया है और हम इस विषय में अपनी कौनसी विशेषता रख रहे हैं?

यदि साहित्यकार की दृष्टि अपने समय की प्रमुख समस्याओं पर पूरे तौर से पड़ी है और उसने अपने साहित्य में उनका मार्मिक चित्रण किया है तो यह बात विशेष महत्त्व की नहीं है कि वह उनका क्या हल हमारे सामने रखता है। रचयिता का बौद्धिक तीव्रता और ग्राहिका शक्ति का आभास हमें इतने में भी मिल सकता है कि उसने अपने समय की विभिन्न सामाजिक प्रगतियों और मार्ग में आने वाली दिक्कतों को देखा है या नहीं। वह कोई उड़ंछू आदमी तो नहीं है। वर्षों पूर्व मैथिलीशरण जी अथवा प्रेमचन्द जी के सामने जो प्रश्न थे और उन पर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया उनकी थी वही या उतनी ही आज भी हमारी हो यह आवश्यक नहीं है। न यही आवश्यक है कि आज हम उन्हें समय से पिछड़ा हुआ सिद्ध करने में अपने समय और शक्ति का अपव्यय करें। हम उन्हें आज का नेता नहीं मानते, इतना ही हमारे लिए बस होना चाहिए। साहित्य के इतिहास में उनका जो स्थान है उसे उनसे कोई नहीं छीन सकता।

यहाँ अब यदि हमें इस सूत्र से निकले हुए कतिपय निष्कर्ष स्थूल रूप से आपके सामने रखने हों तो मैं इस प्रकार रखूंगा— १. परिवर्तन के अन्तर्गत प्रगतिशील व्यक्तियों को पहचानना २ परिवर्तन से उत्पन्न हुई विचारधारा के शब्द संकेतों का मनोयोग के साथ अध्ययन और प्राचीन प्रगतिशील विचार-धारा की शब्दावली और उसके उद्देश्यों की नवीन उद्देश्यों से तुलना ३. नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल ४. प्राचीनता के मोह का परित्याग ५. नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रेरणा उत्पन्न करना ६. रूढ़ियों के प्रति शंका उत्पन्न करना और ७. (हासोन्मुख) स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन।

एक युग में रह कर भी एक समस्या पर कई दृष्टियों से आक्रमण किया जा सकता है। यह तो युग की चेतनात्मक जागृति का सूचक है कि लोग अनेक प्रकार से किसी प्रश्न पर विचार करते हैं। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की हठधर्मी का पक्षपाती नहीं हूं। मैं इन वैविध्य को प्रोत्साहन देना चाहता हूं। इस विषय में मुझे अपने दो मित्रों की अक्सर याद आती है। श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री नरोत्तमप्रसाद नागर। दोनों का दृष्टिकोण परस्पर विरोधी है। एक दक्षिणी ध्रुव दूसरा उत्तरी ध्रुव, एक अर्हत प्रेमी और दूसरे फ़ायड के परम भक्त। 'सुनीता' जैनेन्द्र का एक सामाजिक उपन्यास है, उसमें चित्रण है एक ऐसे परिवार का जिसमें एक युवती पत्नी और उसके पतिदेव हैं। पतिदेव के मित्र एक नवयुवक का बाहर से आगमन होता है। इस नवयुवक में आकर्षण की सृष्टि होती है उसे एक गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध करके। अब यह क्रान्तिकारी पुरुष है और वह युवती स्त्री। परदा नहीं। पतिदेव उपन्यास की समस्या को सामने लाने के लिए कुछ दिनों घर से बाहर कहीं काम से चले जाते हैं। समस्या बिलकुल प्रत्यक्ष है, परदा रहित परिवार में परपुरुष के प्रवेश की समस्या। अवश्य यह आज की हमारी एक आवश्यक समस्या है, किन्तु इसका समाधान जैनेन्द्र जी करते हैं। एक रात नग्न रूप में उस स्त्री को दिखा कर और क्रान्तिकारी पुरुष के मन तात्कालिक विरक्ति या मानसिक आघात उत्पन्न करके। किन्तु क्या यह कोई वास्तविक समाधान है? मैं इसे वास्तविक समाधान नहीं मानता किन्तु नरोत्तमप्रसाद इसके एक कदम आगे बढ़ते हैं। उनका आक्रमण जैनेन्द्र की सम्पूर्ण मनोभूमि पर है। मैं इस समाधान को उपन्यास का कोई आवश्यक अंश भी नहीं मानता। किन्तु नरोत्तम इतने से ही उसका पल्ला छोड़ने वाले नहीं। वे 'शुतुर-

मुर्ग' पुराण लिखकर यह दिखाते हैं कि दमित इच्छाओं का विस्फोट ऐसी ही कृत्रिम प्रणालियों से होता है जिन्हें लोग रहस्यात्मक रूप देकर छिपाना चाहते हैं।

इसी प्रकार हमारे साहित्य में विचार धाराओं का प्रवाह बड़े वेग से फैल रहा है जिसे मैं व्यक्तिगत रूप से शुभलक्षण समझता हूँ। आज हमारे यहां आध्यात्मिक और वैज्ञानिक संज्ञक वादों को लेकर जो बौद्धिक चर्चा उठी हुई है, उसका परिणाम अच्छा ही देखने में आता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आक्रमण के साथ साथ एक दूसरे को समझाने की चेष्टा भी उतनी ही मात्रा में होनी चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि कला अथवा साहित्य में नियोजित होने पर भी कोई वस्तु योजना स्वतन्त्र रूप से नहीं परखी जा सकेगी। उसकी परीक्षा उक्त कला या साहित्य-वस्तु के प्रभाव के अन्तर्गत करनी होगी।

उदाहरण के लिये जैनेन्द्रकुमार के इस नग्नताप्रसंग को ही लीजिए। इसके गुण-दोष की परीक्षा हमें इस परिस्थिति के बीच रख कर करनी होगी जो उपन्यास में आई हुई है। कला में नग्नता स्वतः कोई भली या बुरी वस्तु नहीं। श्रीमद्भागवत और महाकवि सूरदास ने तो सोलह सहस्र गोपियों का चीरहरण कराया है। ईसाई मूर्तिकला के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य कतिपय नग्न प्रदर्शनों का माना जाता है। यह कहकर मैं श्री जैनेन्द्रकुमार की ओर से सफ़ाई नहीं पेश कर रहा न यही इज़हार दे रहा हूँ कि कलाकृति की समीक्षा में रचियता की मानसिक-अन्तर्चेतना का प्रश्न नहीं उठाता। मेरा कहना केवल इतना है कि कला में की गई कोई भी वस्तु-योजना कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से परखी जानी चाहिए।

उदाहरण के लिए हम 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास को लेते हैं। यदि इसकी समीक्षा मनोविश्लेषण की दृष्टि से की जाय तो विश्लेषक अपना अधिक समय नायिका मृणाल से चरित्र सम्बन्धी अस्वाभाविक झुकावों की ओर देगा। मृणाल की बेतों से मार खाने की इच्छा, अपने भतीजे को गोद में भरना, उससे लिपटना और उसे लिपटाना आदि की मीमाँसा वह करेगी। यही रचना वस्तुवादी या Rationalist परीक्षक को दी जाय वह सूचित करेगा कि इस उपन्यास में अव्यवहार्य अहिंसा का प्रसार करने के लिए उपन्यासकार अपनी नायिका को अनाकांक्षित कष्टों के घोर झमेले में डालता है। वह कहेगा कि मृणाल जैसी तेजस्विता रखने वाली स्त्री यदि विवाह न करना तय कर लेती तो उसका विवाह ही उस व्यक्ति से न होता जिसे वह नहीं चाहती और तब विषम विवाह की समस्या को इस रूप में रखने का अवसर ही न आता। जो स्त्री अपनी अनिच्छा से विवाहित हुई है वह विवाह होने पर पति को सर्वस्व सर्पण कर उसकी अनुचरी बन जायगी। यह गांधी जी का उस टेकनिक के अनुकूल भले ही हो कि जेल के बाहर सत्याग्रह करें पर भीतर सारे नियमों का पालन। किन्तु यह विद्रोही मनोवृत्ति के विकास के उपयुक्त नहीं। इसी प्रकार वह यह भी कहेगा कि उपन्यास की नायिका किसी क्रमबद्ध मनोविज्ञान के आधार पर नहीं चलती, बल्कि एक अहिंसावादी सिद्धान्तविशेष की पुष्टि के लिए भाँति-भाँति की परिस्थितियों में डाली जाती और आचरण करती है। किन्तु समीक्षक इन पहलुओं पर ही ध्यान न देकर यह भी जानना चाहेगा कि उपन्यास विषम-विवाह की समस्या पर (जो उपन्यास में आयोजित है) कैसी गहरी चोट करने में सफल हुआ है। उसे

यह अवश्य अनुभव होगा कि मृणाल आज की परवश नारी और विवश कन्या की प्रतीक बनाकर दिखाई गई है। प्रचारात्मक अधिकांश कृतियों की भांति इसमें भी कुछ दोष हैं अतिरंजना के। अस्पष्टता इस उपन्यास का दुर्गुण बन गया है, पर इसके प्रभावात्मक गुणों की अवहेलना नहीं की जा सकेगी।

यहीं हम प्रगतिशील साहित्य के तीसरे सूत्र को पकड़ते हैं, जिसे हम कला निर्माण का सूत्र कहेंगे। ऊपर श्री मैथ्लीशरण गुप्त और श्री प्रेमचन्द का हवाला आ चुका है। वहाँ मैंने यह संकेत किया है कि ये दोनों अपने समय के प्रगतिशील साहित्यकार थे। किन्तु ये आज के हमारे नेता नहीं है। उनका स्थान इतिहास में हो गया है। यह एक पक्ष की बात है। उनका एक दूसरा पक्ष है कला निर्माण का क्योंकि ये कोरे विचारक नहीं हैं कवि और कलाकार भी हैं; इस दृष्टि से उनकी रचनाएं सब समयों में पढ़ी जायंगी और समधिक आनन्द प्रदान करेंगी। जिन क्षणों में हम किसी विचारात्मक दृष्टि से अनुशासित नहीं होते, केवल काव्य का अध्ययन करना चाहते हैं उन क्षणों में कवियों के कला-निर्माण का पक्ष प्रमुख होकर हमारे सामने आता है। तब हम यह नहीं सोचते कि उसने क्या कहा है, बल्कि यह जानना चाहते हैं कि उसने मानव जीवन किन पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जीवन का समष्टि स्वरूप कैसा खड़ा किया है। किस दशा में वह हमें प्रभावित कर सका और किस अथवा किन कला परिपाटियों का अनुसरण किया है। अकसर ऐसा ही देखा जाता है कि रचयिता किसी प्रशस्त विचारधारा का स्वामी न हो किन्तु मानव जीवन के विविध अंशों और अवसरों के चित्रण में उसे बड़ी दक्षता

प्राप्त हुई है। जीवन के सूत्रों को उसने उठाया है, उसका यथोचित समाहार वह कर सका है या नहीं, उसका नक्शा कितना बड़ा है, उसकी कला योजना (चित्र-रचना की क्षमता) और भाषाशैली कैसी है? इस प्रकार के प्रश्न इस अध्ययन में आते हैं। प्रभाव की गहराई, जीवन के व्यापक स्वरूप का उद्घाटन और उन्हें सत्य के कलात्मक आभास से भरना, अन्तर्निहित विचार प्रवाह का प्राणमय संघटन, सारी कृति का समाहित और अटूट ऐक्य आदि ऊंची कल्पना और काव्यशक्ति के परिचायक हैं और इन गुणों से ही कलाकार के महत्व का निर्धारण होता है।

कलाकार द्वारा अङ्कित चरित्र विशेष या चित्र विशेष की आज कोई व्यावहारिक उपयोगिता चाहे न हो पर कलात्मक उपयोगिता सब समयों में रहेगी। जैसे डिकेन्स के उपन्यास। कभी सामाजिक प्रगति के अवरुद्ध द्वारों का उद्घाटन करने के लिए बुद्धविशिष्ट कला की सृष्टि होती है, जैसे इब्सन के नाटक। इस कला के भेदोपभेद हो जाते हैं और इतिहास में अलग-अलग शैलियों का विन्यास हो जाता है। महान् कलाकारों ने सैकड़ों वर्षों के साहित्यिक इतिहास पर अपनी शैलियों की छाप छोड़ी है। दूर-दूर देशों और दूर-दूर समयों में जिनके बीच सामाजिक स्थितियों और समस्याओं का कोई एका नहीं— ये शैलियाँ बर्ती जाती हैं। शेक्सपियर की शैली द्विजेन्द्रलाल राय में और होमर अथवा मिल्टन का अनुसरण माइकेल मधुसूदन दत्त में दिखाई देता है। क्लैसिक और रोमेन्टिक नाम की दो अभिव्यक्ति शैलियां विकसित हुई जिनके भीतर समस्त साहित्य का आकलन किया जाता है (अब भ्रम से कुछ लोग इन दोनों को पृथक्-पृथक् जीवन दर्शन के रूप

में लाने लगे हैं पर वास्तव में ये जीवन दर्शन नहीं है कला-शैलियां मात्र हैं) । इसी प्रकार 'रियलिज्म' या वस्तुवाद साहित्यिक और अलात्मक अभिव्यक्ति का एक क्रम है जिसे आज आध्यात्मिक या आदर्शात्मक जीवनदर्शन का विरोधी माना जाता है । यह क्रान्ति इन दिनों हमारे साहित्य में खूब फैल रही है ।

कालिदास के अभिज्ञान—शाकुन्तल में अंगूठी खो जाने के संयोग से नाटक में अमित आकर्षण की सृष्टि हुई है । इसी प्रकार शेक्सपिअर अपने नाटकों में आकस्मिक संयोगी की नियोजना से कथा को तीव्र आकर्षणमय बनाता है । आज हम बुद्धिवादी युग में विकास करते हैं । इसलिए संयोग नियोजन को हल्की कला-सृष्टि का उपक्रम मानते हैं । हम अधिक विश्वसनीय और सुसंगत आधार नवीन कला को चाहते है । उसे हम पा सके हैं या नहीं यह दूसरा प्रश्न है । यह तो मैंने एक उदाहरण मात्र दिया । हमारा उद्योग कला-निर्माण की दिशा में भी अनेकमुखी प्रगतिशील विकास का है । यह साहित्य और कला के लिए शुभ लक्षण हैं ।

कला-निर्माण का पक्ष साहित्य का प्रधान पक्ष है । इसके अन्तर्गत परीक्षित होने पर उन समस्त अनधिकारियों की पोल खुल जाती है जो साहित्य के बाहर बड़े विचारक, जीवन समस्या को सुलझाने वाले दार्शनिक अग्रगामी बना करते हैं । निश्चय ही वे अपने क्षेत्र में अग्रगामी होंगे, किन्तु साहित्य में आने पर तो उनकी जांच हमारी साहित्य कसौटी पर होगी । सम्भव है, उन्होंने बहुत बड़ा नकशा बनाने की (महाकाव्य या बड़ा उपन्यास तैयार करने की) हिमाकत की हो पर नक्शे का बड़ा होना ही उन के असफल हो जाने का कारण बन

सकता है। बड़े नक्शे को सजाना, सजीव करना, रूपों-रंगों कथाओं अन्तर्कथाओं को यथास्थान नियोजित करना सारे नक्शे में रचयिता के अन्तर्निहित प्राण-प्रवाह का प्रवेश करना, जीवन चित्र.की प्रत्येक रेखा का सप्रयोजन, सुसंबद्ध और गुम्फित स्वरूप देना साधारण कलाकार का कार्य नहीं। यह साधारण कलाकार चरित्रों की सृष्टि कर सकता है, अन्तर्व्याप्त स्पंदन और कला की आत्मा की नहीं। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की अपेक्षा उनकी छोटी आख्यायिकाएं क्यों श्रेष्ठ कला मानी जाती हैं? क्योंकि छोटे दायरे में प्रेमचन्द जी अधिक सफल काम कर सकते हैं और जब प्रेमचन्द जी की यह बात है तब उनकी क्या चर्चा जिनका कला की सीमा में प्रवेश ही नहीं किंतु जो अव्यवस्थित समय का लाभ उठाकर अपने को प्रगतिशील साहित्यिक विज्ञापित करते हैं। प्रगतिशील साहित्यिक के लिए आवश्यकता यही नहीं है कि वह नई विचारणा को लेकर साहित्य के बगीचे में उसे इस प्रकार लगा दे कि वह चार ही दिन में सूख जाय। आवश्यकता यह भी है कि वह अपनी विचार-लता को कला के संजीवन से सिंचित कर और उसे उपवन के अन्य सुन्दर वृक्षों और बेलियों के साथ लहलहाने योग्य बनाएं।

ये ही तीन प्रधान सूत्र, मेरे विचार से, प्रगतिशील साहित्य के हैं। जीवन आस्था, परिवर्तन की पहिचान और उपचार तथा कलात्मक स्वरूप का नियोजन। इनमें पहला सूत्र, जीवन-आस्था प्रकृति की अपनी तजवीज है इसलिए वह ऐसी रचनाओं का आप-से-आप लोप करती चलती है जो उसकी तजवीज के विरुद्ध है। किन्तु मुद्रण-कला की अभिवृद्धि के साथ पुस्तकों की ऐसी बाढ़ आ गई है कि प्रकृति का यह काम पिछड़ गया है।

इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य स्पष्ट ही यह है कि हम प्राकृतिक कार्य में सहायक होकर उसे शीघ्र कारगर होने दें। दूसरा सूत्र हमें मानव सुलभ आलस्य और गतानुगतिका के विरुद्ध उठ खड़ा होने की चुनौती देता है। नवीन ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करने को आमंत्रित करता है। परिवर्तन की एक व्यावहारिक सीमा के अन्तर्गत सुव्यवस्थित जीवन-योजना का निर्माण करने का रास्ता सुझाता है। सभी समयों की अपनी-अपनी समस्याएं होती हैं। उन-उन समयों के साहित्यकार उनका कैसा नक्शा उतारते हैं, कैसे प्रभावशाली तथा निर्णयात्मक रूपमें उन्हें हलकर माते हैं—यह साहित्यकार के महत्त्व का एक अचूक मापदण्ड है। विविध विचारधाराओं का प्रसार मैं कह चुका हूं, मेरी दृष्टि में एक उपादेय वस्तु है, साहित्यक्षेत्र के सजीव सक्रिय और उर्वर होने का सूचक है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम विकारग्रस्त मानसिक अवस्था और तज्जन्य साहित्यिक रचना का भी नवीन विचार धारा और अनुपम कलाकृति कह कर स्वागत करें।

तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है कला के अपने विकास का। भ्रमवश लोग यह समझ लेते हैं कि किसी विशेष वाद की, जिसके वे हिमायती हैं, काव्य में स्थापना हो जाना ही काव्य के लिए महत्त्वप्रद है। कुछ लोग बड़े ऊंचे आदर्शों का, यहाँ तक कि कुछ लोग राम के नाम का ही काव्य में आ जाना ही काव्य का चरम लाभ मान लेते हैं। ऐसे ही लोग रहस्यवाद अथवा किसी आध्यात्मिक मानधारा के प्रवेश मात्र से कला के प्रति श्रद्धास्पद धारणा बना लेते हैं। और ठीक इसी के विपरीत कुछ अन्य लोग इसी कारण उसे कोसना आरम्भ कर देते हैं। दोनों बहुत ही ऊपरी दृष्टियां हैं। ऐसी

स्थिति में पहले तो हमें यह देखना होगा कि उस वाद विशेष का किस प्रकार के मानसिक माध्यम में पर्यवसान हो रहा है (कोई भी वाद या विचारधारा कला रूप में आवेगी तो मानसिक माध्यम से होकर ही) । यदि मानसिक माध्यम स्वतः समुन्नत नहीं तो कोई भी श्रेष्ठ कला के निर्माण में सहायक नहीं हो सकता और यदि मानसिक माध्यम सुसंपन्न है तो हमें यह देखना होगा कि उस माध्यम में मानस-साक्षात्कार कराने की, कलात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति कितनी है। इसलिए मुख्य प्रश्न यह नहीं कि वाद कौन सा है बल्कि मुख्य प्रश्न यह है कि वह वाद रचनाकार की मनःस्थिति को किस दशा में परिचालित करता और कैसे काव्य का सृष्टि में संलग्न करता है ! किसी वाद विशेष को रचयिता ने किस रूप में ग्रहण किया है, और उसमें काव्यशक्ति कितनी है। अपने मानसिक चित्रपट को काव्य के रूप में अङ्कित कर देने, फोटोग्राफी की भाषा में 'नेगेटिव' को चित्र का रूप देने में उनकी योग्यता कितनी है। बहुत कुछ रचयिता के अपने व्यक्तित्व और कौशल पर अवलंबित है। इसी व्यक्तित्व का काव्य कला में विकास क्रम नौटंकी से लेकर प्रशस्त जीवन चित्रों की ओर विशाल मानसिक योजना तक देखा जा सकता है।

किन्तु एक बात मैं यहां अवश्य कहूंगा। जिन मानसिक उद्वेलनों और विचारचक्रों का सृजन हमारे युग में हो रहा है वे ही उत्कृष्ट काव्य के रूप में परिणत होने के अधिक योग्य हैं। हम यहां एक बात कह सकेंगे कि जिस युग में जितने ही बलशाली उद्वेजन जिस दिशा में उठेंगे उन उद्वेजनों को लेकर उतने ही महान् साहित्यकार के जन्म लेने की सम्भावना उस दिशा में होगी। रूसी और फ्रांसीसी क्रान्तियुगों के साहित्यिक

इतिहास से यह कथन परिपुष्ट हो जाता है। कोई भी विराट उथल-पुथल का युग एक असाधारण मानसिक क्रियाशीलता लेकर आता ही है। आवश्यकता केवल एक ऐसे संयोग की होती है कि कोई रचनाशील मस्तिष्क उस महान् उथल-पुथल को साकार कर दे, उस क्रियाशीलता की विस्तृत छाप छोड़ जाय—अर्थात् उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक रचनाएं दे जाए। किन्तु इस बात का आग्रह फिर भी नहीं किया जा सकता कि वे रचनाऐ बाह्यरूप से किसी परिपाटी विशेष अथवा किसी वाद विशेष के अनुकूल हों। इसलिए जो लोग काव्य में किन्हीं वादों को रखने का हठ करते हैं जैसा कि कतिपय 'प्रगतिशील-साहित्य-वादी' आज कर रहे हैं। यही नहीं उन वादों के काव्योत्कर्ष का प्रभाव रचनाकार पर पड़ता ही है उसे किसी प्रकार की अभिव्यक्ति विशेष के लिए बाध्य क्यों किया जाय ?

आज हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के कौन से क्षेत्र हैं ? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यों ? क्योंकि उन्हीं क्षेत्रों ने इस समय नवीन प्रतिभा को आकर्षित कर रखा है। क्यों नहीं आज प्रचलित धार्मिक क्षेत्रों में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएं और सुन्दर कला-निर्माण हो रहा है ? क्यों आज वे पुरानी अनुकृतिसे ही अथवा दूसरे नवीन क्षेत्रोंकी प्रगतिशील शैलियों को अपना कर ही सन्तोष कर रहे हैं। स्वतः नई भूमि क्यों नहीं तैयार करते। स्पष्ट ही इसलिए कि वहां जीवन और उद्भावना का अभाव तथा पिष्टपेषण का प्राधान्य है। किन्तु क्या इसी कारण इस प्रगतिशील साहित्य के लिए नियम बना देना होगा कि वह किसी एक प्रणाली से ही व्यक्त किया जाय अथवा किसी विशेष मतवाद का समय समय राग अलापा करे। ऐसा करना तो प्रगति को कुण्ठित

कर देना और रचनात्मक शक्तियों को प्रचार की दिशा में मोड़ देना होगा। निश्चय ही प्रचार कला का कोई लक्ष्य नहीं, कला का लक्ष्य तो है सृष्टि। नई प्राणप्रतिष्ठा, नए तौर तरीके (टेकनीक), नूतन छन्द, नवीन भाषा, नयी भावाभिव्यक्ति ये कला की अपनी प्रगतियाँ हैं।

फिर प्रश्न यह भी है कि केवल समाजवाद ही क्यों? क्या वह जीवन के सब विभागों को पूरा कर लेता है? क्या मनुष्य समाज के सामने और कोई सवाल नहीं रहा, विकास की कोई दिशा नहीं रही? क्या समाजवाद में ही मनुष्यता अपने आदर्श विकास पर पहुंच जायगी, और उसके प्रतिष्ठित होने पर प्रगति का मार्ग बन्द हो जायगा? ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता। मानव-विकास की अनेक समस्याएं उसके पहले हैं और उसके पीछे भी रहेंगी। अनेक नवीन प्रश्न उठेंगे। सतत विकास ही प्रगति का ध्येय है। ऐसी अवस्था में कलाकार का रचना स्वातंत्र्य छीना नहीं जाना चाहिए।

किन्तु हमारी दृष्टि आज बौद्धिक वादों और उनके साहित्यिक निरूपणों की ओर इतनी अग्रसर है कि हम मुख्य कला-विवेचन को छोड़ ही बैठे हैं। यही कारण है कि हम वाद-विशेष का नाम लेकर रचना करने वालों के प्रति एक धारणा कायम करलेते हैं और फिर किसी प्रकार उसे छोड़ने को तैयार नहीं होते। हमारी निष्पक्ष कलादृष्टि संकुचित हो जाती है। इसी कारण बहुत से रचनाकारों को अनुचित लांछन मिला है (जैसे 'प्रसाद' जी के काव्य को आए दिन कुछ क्षेत्रों में मिल रहा है) और बहुतों को अनुचित प्रशंसा भी हासिल हुई है। (जैसे प्रेमचन्द्र जी के उपन्यासों की कलात्मक निःशक्तता की ओर ध्यान न देकर कुछ लोग

उन्हें आसमानी ऊंचाइयों पर पहुंचा रहे हैं अथवा श्री सुमित्रानन्दन पंत की कुछ नवीन रचनाओं की, केवल कम्यूनिस्ट छाप के कारण सराहना की जा रही है उपदेशात्मकता मे वे तीस साल पूर्व की कविताओं की ओर बढ़ रही हैं और शृङ्गारिकता में बिहारीलाल से होड़ करती हैं।)

ऊपर मैंने जिन तीन प्रगतिशील सूत्रों का उल्लेख किया वे साहित्य और कलाओं में एक दूसरे से मिले रहते हैं। यही नहीं, वे एक दूसरे को वेष्टित करते और सुदृढ़ बनाते हैं। ये सूत्र जब साहित्य में एक साथ ग्रथित हैं तब इनका पृथक्-पृथक् निरूपण करने में न केवल कुछ कठिनाई होता है बल्कि यह शंका भी उत्पन्न होती है कि क्या ये एक दूसरे से पृथक् किए भी जा सकते हैं। यहां मैंने इनका अलग-अलग निर्देश इसलिए किया है कि इनको मैं तीन पृथक् प्रवृत्तियां मानता हूँ जो संयुक्त होकर भी अपने-अपने विशिष्ट प्रकार से साहित्य अथवा कला का उन्नयन करती हैं।

अब मैं आपका अधिक समय नहीं लूंगा, कि अपना यह वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व मैं आप लोगों के सामने (जो अधिकांश हिन्दी प्रान्त के निवासी नहीं हैं) अपने साहित्य के उन तीन नवीन उत्थानों के विशिष्ट रचनाकारों के नामों का संक्षेप में उल्लेख करूंगा जिन उत्थानों का जिक्र मैंने अपने वक्तव्य के आरम्भ में किया है। यहां उन उन्नयकों की विशेषताओं का प्रदर्शन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि उसके लिए समय पर्याप्त नहीं। किन्तु नामावली स्वतः अपना उपयोग रखती है। आप चाहें तो इनमें से एक या अनेक का रचना-सौष्ठव देखने के लिए इनका अध्ययन करें और अपने-अपने प्रान्तीय साहित्यकारों की तुलना में इन्हें रख कर देखें। ये

नाम मैंने अपनी रुचि से छाँटे हैं इसलिए इनकी जिम्मेदारी स्वभावत: मुझ पर ही है। अतः मैं सब से पहले उन महानुभावों से क्षमा लूंगा जिनके नाम इस छोटे पैमाने में नहीं आ सके हैं।

मैं यह कह चुका हूं कि हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षों में तीन प्रगतिशील आन्दोलनों का सृजन-सचालन कर चुका है। एक तो विगत युद्ध के पूर्व का साहित्यिक अध्ययन जिसके विधाता गद्य में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी और काव्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त माने जा सकते हैं। इसके अन्य उन्नयकों में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्री श्रीधरपाठक जैसे काव्य रसिक भी गिने जायेंगे। महायुद्ध के पश्चात यह आन्दोलन चलता रहा जब कि इसकी आखिरी बहार में दो सर्व सुन्दर पुष्प खिले, श्री रामचन्द्र शुक्ल और श्री प्रेमचन्द्र। दूसरा साहित्यिक आन्दोलन यद्यपि शिलान्यास की दृष्टि से महायुद्ध का समसामयिक है किन्तु जड़ पकड़ी थी जयशंकरप्रसाद के आंसू काव्य के प्रकाशन के पश्चात्। वह साहित्य में रोमेण्टिक विद्रोह का आन्दोलन कहा जा सकता है जिसने विभिन्न रचनाकारों की प्रवृत्ति के अनुसार बहुमुखी रूप धारण किये हैं। 'पन्त' और 'निराला' इसके प्रमुख काव्य उन्नयकों में हैं। कल्पना, कला, शब्दशक्ति और व्यक्तित्त्व उसे इन दोनों ने दिया। फिर एक ओर यह 'महादेवी' की करुण आध्यात्मिक रागिनी में परिणत हो गया और दूसरी ओर भगवतीशरण वर्मा की उन्मादयुक्त खुमारी तक पहुंच गया। सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार और रामनाथ सुमन की ऐकान्तिक आदर्शवादिता से लेकर भगवतीप्रसाद की निराशा, मूलक कथाओं तक के इसकी अनेकानेक भावभंगिमा दिशा-

विभाग और 'शेड्स' दिखाई देते हैं। इसकी एक अनोखी दीप्ति श्री उग्र की रचनाओं में देखी थी किन्तु प्रतिकूल झंझावात ने यह सुनकर दीपक बुझा दिया। हाल की कहानियों में किमाकार (कुलरूप) लौ ही रह गई है जिसके प्रशंसक इसकी उगती प्रतिभा पर कुठाराघात करने वाले कुछ महानुभाव हैं। 'नवीन' और 'माखनलाल' इस व्यापक आंदोलन के राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रहरी हैं। 'दिनकर' उनके वीर बालक हैं। सुभद्रा कुमारी उनकी सहकारिणी। श्री इलाचन्द्र जोशी, रामकुमार वर्मा, गोविंदवल्लभ पन्त और वृन्दावनलाल के नाम भी इस युग के उन्नयकों में आते हैं। इस विराट् आंदोलन के प्रधान प्रतिनिधि जिनकी रचना में ऊपर उल्लेख किए गए प्रायः उसी 'शेड्श' या दिशाविभाग मिलते हैं; श्री जयशंकरप्रसाद हैं। प्रतिभा, कल्पना, अध्ययन और बौद्धिक अन्तर्दृष्टि में वे अपने साहित्य-युग के अन्यतम व्यक्ति थे। साहित्यनिर्माण में उन का सा बहुमुखी विस्तृत और प्रतिनिधिमूलक कार्य किसी ने नहीं किया।

इस कल्पनाप्रधान विद्रोही युग की सामयिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई राजनीति में समाजवादी विचारों के आगमन और अन्तर-राष्ट्रीय पी० ई० एन० क्लब की हिन्दी-स्थापना के पश्चात्। इस क्लब की सदस्यता हिन्दी में मुंह मांगे मिल रही थी इसलिये बहुत से अयाचित और अनाकांक्षित व्यक्ति इसमें आरम्भ से ही सम्मिलित हो गए। जिन्हें साहित्य के राजद्वार से मार्ग नहीं मिला वे इस रास्ते घुस आये। फिर संभवतः इस क्लब को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इस में श्री सुमित्रानन्द पंत जैसे भिन्नरुचि व्यक्ति का प्रवेश कराया गया और उन्हें प्रगति सूत्र सौंपा गया। यह सारी चेष्टा ऊपर-ही-ऊपर चल रही थी। काव्यक्षेत्र में इसके पनपने के लिये जमीन तैयार नहीं कीगई।

जमीन आगे चलकर तैयार हुई पर स्वतन्त्र उद्योगों से उसका अधिनायकत्व पंत को नहीं मिल पाया, वह मिला 'बच्चन' और 'अंचल' को; जिन्होंने काव्यक्षेत्र में नई भाषा चलाई, नई भाव-धारा प्रवाहित की। कथा साहित्य में उसके उन्नायक 'अज्ञेय' और यशपाल आदि हैं! नाटकों में नवीन कार्य लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने आरम्भ किया और अब भुवनेश्वर प्रसाद आदि चला रहे हैं। विचारों के क्षेत्र में इस नई हलचल का प्रतिनिधि मैं डाक्टर हेमचन्द्र जोशी को मानता हूं यद्यपि अब वे इस क्षेत्र में नहीं हैं। मेरा विश्वास है कि अब भी यह आंदोलन अपनी गहरी नींव नहीं जमा सका है और इसका स्वभाविक कारण यही है कि रचनात्मक कार्य की अपेक्षा, प्रचार और प्रदर्शन की ओर हमारी अधिक अभिरुचि है। दूसरी बात यह है कि प्रतिक्रिया के रूप में इसके उच्छृङ्खल पक्षों ने जोर पकड़ रखा है।

किसी भी साहित्यिक आन्दोलन की सही-सही विशेषताओं का निरूपण और परख मेरे विचार से उस आन्दोलन के पुरस्कर्ता उतनी निष्पक्ष दृष्टि से नहीं कर सकते। इसके लिए आवश्यकता है तटस्थ समीक्षा की, जिनका अधिकांश भार विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और विशेषज्ञों (Academicians and Specialists) को उठाना चाहिए। मुझे यह खेद होता है कि हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक अपने इस कर्तव्य की ओर उचित रूप से अग्रसर नहीं हैं

इसके लिए यह भी आवश्यकता है कि सामयिक पत्रिकाएं और पत्र इस विषय में दिलचस्पी लें और सम्यक् रूप से सामयिक साहित्य के अनेकानेक पहलुओं पर प्रकाश डालें। खेद है कि यह क्षेत्र और भी अविकसित है और इस समय बहुत

थोड़े योग्य व्यक्ति सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का परिचालन कर कर रहे हैं। बड़ी और पुरानी पत्रिकाओं की यह अधोगति देख कर ही हाल में कुछ छोटी-छोटी विचारात्मक पत्रिकायें प्रकाशित होने लगी हैं। मैं इन उद्योगों की सफलता चाहता हूँ। साप्ताहिक और दैनिक पत्र भी साहित्य सम्बन्धी चर्चा के लिये अपना द्वार प्रायः बंद किए हुए हैं। वे लोकरुचि की दुहाई देते हैं और कहते हैं कोई पढ़ता नहीं इन लेखों को। किन्तु क्या इतनी ही सफ़ाई काफी है? मेरे विचार से कुछ दिनों तक निरुद्देश्य भी विचार पूर्ण साहित्यिक लेखों को (जहां तक हो सके सरल भाषा में) छापते रहना रुचि-संस्कार कारक होगा। हमारे पत्र संपादक क्या इस कर्तव्य की ओर ध्यान देंगे? आज हिन्दी में निम्न-कोटि की कहानियों और तत्संबंधी पत्रिकाओं का बाजार गर्म है। कई प्रतिष्ठित पत्रिकायें साहित्य की दृष्टि से एकदम निरुद्देश्य निकल रही हैं, यह स्थिति बहुत चिन्ताजनक है। मैं तो इसके सुधार की अपील कर सकता हूँ।

———

हिन्दी-गीतिकाव्य

(१)

हिन्दी-गीतिकाव्य का इतिहास उस सरिता का इतिहास है, जो भरपूर लहराकर बीच में ही सूख गई। शृंगार-काल में जो सामाजिक मृग-मरुस्थल मिला, उसी में समाकर बीच-बीच में वह अपने पूर्व अस्तित्व का आर्द्र परिचय कवित्त और सवैयों में देती रही। आधुनिक युग में वह फिर एक स्वतन्त्र झिरझिरी के रूप में फूट पड़ी, मानो उसे अनुकूल भूमि मिल गई हो।

आज तो प्रायः सभी नवयुवक गीत ही लिख रहे हैं। सच तो यह है कि अब के छायावाद ने अपनी एक विशेष प्रगति गीतों की ओर कर ली है। इसका कारण यह कि या तो यह कविता का युग नहीं है, या, यदि युग कविता को प्यार कर सकता है तो गीतों में, जहां वह श्रम-श्रांत विहग की तरह किसी डाल पर कुछ क्षण चहक ले! इस युग में भी मध्यकाल की ही भांति सौन्दर्य्य-लालसा और विरह-क्रन्दन है; इसका कारण युग को वह विकट ट्रेजडी है जिसने पुञ्जीभूत होकर संतप्त मनुष्यों के मन में कोमलता की प्यास और भी तीव्रता से जगा दी है, मानो वैज्ञानिक युग का शुष्क कण्ठ सजल संगीत चाहता हो। कदाचित् यह युग गीतों की दिशा में उतनी शताब्दी तक आगे जाय जितनी शताब्दियों तक वैष्णव-गीतिकाव्य के बाद से उसकी प्रगति रिक्त थी।

वर्तमान युग में जिस प्रकार राजनीतिक अकाल फैला हुआ है, उसी प्रकार अतीत के ऐतिहासिक युग में नैतिक अकाल पड़

ने पर गीतिकाव्य का अमृत-उत्स फुहराया था। गत युग के गीतिकवि मरे नहीं; उन्होंने अपने को रूपान्तरित कर दिया। आज वे उसी रूप में इसलिए नहीं आये कि युग का जीवित व्यक्तित्व न ग्रहण करने पर बीसवीं शताब्दी का पास छिन जाता।

युग ने कविता को समाप्त कर दिया, इस कथन में संदेह जान पड़ता है, क्योंकि घोर वैज्ञानिक लौह-हाथों ने भी अपनी जीवन-तृष्णा को संगीत के परदों में छिपाकर वाद्य-यन्त्रों के सभ्य रूप में उपस्थित कर दिया है। विज्ञान काव्य की भाषा नहीं जानता, इसी लिए उसने 'मेघदूत', 'हंसदूत' या 'पवनदूत' न भेजकर संगीत के क्षेत्र में भी 'यंत्रदूत' ही भेजा है। वह यान्त्रिक जड़ता मानो कवि से चेतना की भीख मांग रही हो।

(२)

शृंगार-काल से गीतिकाव्य का अवरोध, भारतीय जीवन की एक भिन्न प्रगति का सूचक है। मुगल-शासन एक भिन्न जीवन लेकर आया था। उससे चिरप्रवाहित हिन्दु-जीवन का स्रोत बदल गया। दूरदर्शी अकबर ने हिन्दू और मुसलमानों के मेल से एक नवीन सामाजिक जीवन को जन्म दिया। इस नवीन जीवन में हिंदु-धर्म ने पूजा-गृहों में ही स्थान पाया; घरेलू जीवन में इसलामी लौकिकता का प्रचार हुआ। रसिकता की बाढ़ आ गई। वैष्णव-गीतिकाव्य में भक्तों की जो साधना थी उसके बजाय शृंगारिक कविताओं में विशेषतः गृहस्थों की प्रणय-आराधना प्रकट हुई।

शृंगारिक कवियों ने गीतिकाव्य को अपना जीवन नहीं दिया। इसका कारण, गीतिकाव्य में भक्तों की वह गीताञ्जलि थी जो भगवान् के सिवा और किसी को अर्पित नहीं की जा

सकती थी। गीताकाव्य धर्मपरायणों का संकीर्त्तन था सभी अपने 'प्रेयर' में भगवान् को गीताञ्जलि देते हैं। भारतीयों के लिए संगीत-कला आत्मकल्याण का साधन थी। महर्षि सामवेद की ऋचायें गाकर परमात्मा को रिझाया करते थे। उनके वंशज देव-मंदिरों में ही संगीत-समारोह करते थे। शृंगारिक हिन्दु कवि गीतों की इस पवित्रता को समझते थे, इसी लिए उन्होंने उसे दूषित नहीं किया। दूसरी तरफ उन्हें नये सामाजिक जीवन को अङ्गीकृत करना अनिवार्य हो गया। पूर्वजों की गीति-क्षुधा शृंगारिक कवियों की आंतरिक भूख में भी थी किन्तु नवीन शासन में वे धर्म-संकट में पड़ गये। एक ओर उन्हें गीतिकाव्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना था, दूसरी ओर उन्हें अपने हृदय की सांस लेनी थी। फलतः गीतिकाव्य को उन्होंने देवता का निर्म्माल्य बने रहने दिया, साथ ही उस रसिकता को जो शाही दरबारों में संगीत के रूप में प्रकट हो रही थी, अपनी कविताओं में यथाशक्ति हिन्दु-मर्य्यादा से बाहर नहीं जाने दिया। उनके समय में गीतिकाव्य और प्रबन्ध-काव्य—काव्य-कला के ये दो रूप उपस्थित थे। शृंगारिक कवि, प्रबंध-काव्य की ओर बढ़ सकते थे, क्योंकि 'मानस' में गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के जीवन-क्षेत्रों के लिये रस-स्रोत उद्गत कर दिया था। केशव ने रामचन्द्रिका' और पद्माकर ने अपने 'राम-रसायन' द्वारा उस ओर बढ़ने का प्रयत्न भी किया था; किंतु उनसे पूर्ववर्ती शृङ्गारिक कवियों ने ही अपने मुक्तक पदों से अपनी असमर्थता दिखला दी थी कि प्रबंध-काव्य उनकी प्रतिभा का क्षेत्र नहीं। उनका क्षेत्र गीतिकाव्य का ही क्षेत्र था क्योंकि इस दिशा में इतनी साहित्य-सृष्टी हो चुकी थी कि वह उनके लिये अनभ्यस्त नहीं हो सकती थी।

सामाजिक आदर्श उपस्थित करने के लिए प्रबंध-काव्य का जन्म होता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन में हिन्दुओं के लिये आदर्श नहीं होता है। शृङ्गारिक कवि तत्कालीन वर्तमान की ही प्रजा थे। फलतः अतीत का सर्वश्रेष्ठ प्रजा गोस्वामी जी के हाथों ही वह आदर्श बना था।

तुलसी की भांति प्रबंध-काव्य का नवीन प्रशस्त क्षेत्र ग्रहण करने के लिये जिस विपुल आत्मसाधना की आवश्यकता थी, वह शृङ्गारिकों में न थी। यदि होती तो गीतिकाव्य का क्षेत्र ही ग्रहण कर लेने में शृङ्गारिकों को क्यों संकोच होता? विशद भक्ति के समान ही विशद प्रतिभा का जीवन न प्राप्त होने के कारण ही वे तुलसी की प्रबंध-शैली की ओर भी न बढ़ सके। उन्होंने गीतिकाव्य और प्रबंध-काव्य के बीच का मध्यपथ कवित्त और सवैयों में ग्रहण किया। कवित्त और सवैया, भक्तिमय गीतिकाव्य के ही शृङ्गारिक रूपान्तर हैं। शृङ्गारिक कवियों की प्रतिभा गीति-काव्य की प्रतिभा थी। यदि धर्म-मर्य्यादावश उन्हें गीति-काव्य का इतिहास वर्तमान युग तक अविच्छिन्न चला आता और आज उसका पुनर्जन्म नहीं, बल्कि दीर्घ जीवन ही बहता हुआ दीख पड़ता।

शृङ्गारिकों के इस क्षेत्र से हट जाने पर, शाही दरबार 'गीति काव्य' के लिए 'कोर्ट आफ़ बोर्ड' बना। गीति काव्य दरबारों के संरक्षण में जाकर 'गायन' हो गया। धीरे-धीरे गीतों में 'शिव-पार्वती' के स्थान में 'राधा-कृष्ण' के नाम आये और फिर उन्हें भी हटा कर 'सैयां-पिया' ही विशेष रूप से रह गये। आधुनिक युग में जब हमारा नवीन साहित्य बालिग़ हुआ, तब वह 'कोर्ट आफ़ वार्ड्स' के हाथों में पड़े हुए गीतिकाव्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने उत्तराधिकार में निर्गुण और

सगुण की भक्ति ली, तथा कवित्त और सवैयों में सौन्दर्य और प्रेम की छिपी हुई भूख-प्यास भी! साधारण जनता ने मुग़ल सामाजिक जीवन के अवशेष-संगीत-स्वरूप सैयाँ और पिया को भी अपनाया। ग़नीमत यह कि 'सैयाँ पिया' सिनेमा के चित्रपट पर ही अधिक दर्शन देते हैं, साहित्य के हृत्पट पर कम। इधर सिनेमा के गीतों में भी कुछ उन्नति हुई है। उनमें साधारण सुबोध भाषा में भाव-सौन्दर्य्य भी उसी अनुपात में रहते हैं जितने कि वे भारी न पड़ जायं। फिर भी भाषा को शुद्धता की गुंजाइश है। सहज हिन्दी में उर्दू कवियों-द्वारा जो गीत लिखे जा रहे हैं वे सुबोध, मार्मिक और सुसाहित्यिक है, सिनेमा के गीतों के लिए आदर्श हो सकते हैं।

(३)

आधुनिक युग में गीतिकाव्य ने नाटकों में प्रथम स्थान बनाया। यदि मध्ययुग में गद्य का विस्तार हो सका होता तो शृंगारिक कवियों को गीतिकाव्य की अपनी प्रसुप्त आत्मा को उसी में जगाने का अवसर मिलता, प्रबन्ध काव्य की प्रतिभा के अभाव में भी अपने भावों के लिए उन्हें एक संगीत-पथ मिल जाता, यदि उनमें नाटकीय प्रतिभा होती। किन्तु प्रबन्ध-काव्यों की ओर उनका झुकाव न होना, इस प्रतिभा का अभाव सूचित करता है।

सामूहिक चेतना के कारण गद्य का गौरव आधुनिक युग में बढ़ा। भारतेन्दु ने नाटकों-द्वारा आधुनिक युग का स्वागत किया। गतयुग की आत्मा के स्मृति-स्वरूप उनके नाटकों में संगीत ने स्थान पाया। जिस सामूहिक चेतना को लेकर भारतेन्दु खड़े हुए उसी के अनुरूप उनका संगीत था, उनमें साहित्यिक छटा नहीं थी। भारतेन्दु को उसे साहित्यिक छटा देने का

ध्यान भी नहीं था, क्योंकि मध्यकाल की शृंगार-परम्परा में वे अपने मुक्तक पदों से ही परितृप्त थे।

हिन्दी नाटकों को प्रारम्भतः संस्कृत-नाट्यकला का आधार मिला। युग के अग्रसर होने के साथ-साथ ज्यों-ज्यों हमारे साहित्य का आधुनिक सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों-त्यों हमारी साहित्य-कला अपनी प्राचीन परिधि से आगे बढ़ने लगी। 'प्रसाद' ने नाट्यकला को भारतेन्दु-युग से आगे बढ़ाया। प्रारम्भ में वे भी अपने नाटकों में भारतेन्दु की संस्कृति नाट्य-शैली से प्रेरित थे, यथा—'सज्जन', विशाख' और 'राजश्री' के प्रथम संस्करणों में। किन्तु बीसवीं शताब्दी की साहित्यिक चेतना ने उनके नाटकों का स्वरूप बहुत कुछ बदल दिया। यद्यपि उन्होंने अपने कथानक पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू-काल से लिये, जिसके द्वारा उनकी सांस्कृतिक रुचि का परिचय मिलता है; किन्तु नाट्य-कला को उन्होंने कुछ नूतन अवश्य बनाया—चरित्रों को नवीन मनोवैज्ञानिक प्रकाश में रखकर। उन्होंने भारत के प्राचीन आदर्श और वर्तमान जीवन की सहानुभूतिशील वास्तविकता का मिश्रण किया। वे कवि थे, स्वभावतः उनके नाटकों में गीतिकाव्य ने विशेष स्थान पाया। 'करुणालय' नामक गीतिनाट्य उनकी इसी भावात्मक रुचि का द्योतक था, मानो प्रत्यक्ष जीवन के चित्रपट पर वे परोक्ष मानव-कल्पनाओं को प्रधानता देते थे। यथार्थवाद को वे प्रचलित आदर्शवाद द्वारा नहीं बल्कि मनुष्य के उन काव्य-क्षणों से सार्थक करते थे, जहाँ मनुष्य का बिना किसी नैतिक दबाव के नैसर्गिक आत्मद्रवण होता है। उनके नाटकों से ज्ञात होता है कि कदाचित् उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य में यह काव्य-वृत्ति वर्त्तमान है, सभी मनुष्यों में संगीत-प्रेम इसी

कोमल स्वाभाविकता का सूचक है। 'प्रसाद' का नाटकीय मनोविज्ञान मनुष्य के इसी काव्य-पक्ष (कवि-हृदय) को जगाता है।

'प्रसाद' ने जिस प्रकार छायावाद-द्वारा हिन्दी-कविता का स्टैण्डर्ड ऊपर उठाया, उसी प्रकार नाटकीय गीतों का भी। उनके प्रारम्भिक नाटकों में गीतिकाव्य का कोई नवीन एवं गंभीर दर्शन नहीं मिलता। कारण, उस समय तक एक अन्तर्मुख सुरुचि रखते हुए भी वे अपना कलासन्धान नहीं कर सके थे। उनके सामने पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रंगमंच था; किन्तु 'प्रसाद' जी सर्वथा उसी ओर नहीं बढ़े। आगे उन्होंने अपने नाटकों में संगीत को साहित्यिक महत्त्व भी यथासंभव प्रदान किया। उसे गायन-मात्र न रखकर काव्य बनाया। गीति-काव्य ने अपना विकास-मार्ग 'प्रसाद के नाटकों में बनाया और संगीत ने पारसी नाटकों में मुग़ल-दरबार की संगीत-रुचि। इसी पार्थक्य की भूमि में हिन्दी के नाटक और संगीत दो भिन्न दिशाओं में चले।

इधर 'प्रसाद' का नाटकीय अनुष्ठान नये नवयुवकों-द्वारा अंगरेज़ी नाट्यकला को आत्मसात् करने में जागरूक हुआ; उधर पारसी रंगमंच सवाक् चित्रपटों मे विलीन हो गया। जनता में बंगाल की भांति कलात्मक चेतना न होने के कारण, साहित्यिक नाटक स्टेज पर शोभित नहीं हो सके और पारसी नाटकों में साहित्यिक चेतना न होने के कारण वे कला में स्थान नहीं बना सके। इस प्रकार एक नाट्यदल केवल साहित्यकों को आहार देता रहा, दूसरा जनता को। जनता और साहित्यिकों के बीच के इस पार्थक्य को दूर करना आवश्यक था; क्योंकि इसके बिना साहित्य नाटकों के लिए कभी सार्वजनिक रंगमंच बनाने का अवसर आयेगा ही नहीं।

इस दिशा में श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने नाटकों-द्वारा एक सत्प्रयत्न उपस्थित किया। स्वयं अभिनेता होने के कारण उन्हें रंगमंच का बोध है उन्होंने नाटकों में साहित्यिक छटा को सरल बनाकर रंगमंच की आवश्यकताओं को एक कला-सुषमा दी। 'प्रसाद' जी की दुर्बोधता को गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने नाटकों में निखार दिया। उनके नाटक साहित्यिक नाट्यकला और पारसी नाट्यकला के मध्यवर्ती हैं।

'प्रसाद के नाटकों में गीतिकाव्य जो कि छायावाद का प्रायः मुक्तक काव्य ही बन गया था, उसे गोविन्दवल्लभ के नाटकों और सुमित्रानन्दन की 'ज्योत्स्ना' तथा उससे पूर्व स्फुट-प्रकाशित उनके कुछ गीतों से सङ्गीत-साधना भी मिली।

(४)

अब तक छायावाद ने चार परिणति प्राप्त की है—(१) 'प्रसाद' की काव्य-प्रतिभा (छायावाद की आरम्भिका), (२) माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि का मुक्तक विकास, (३) गीतिकाव्य, (४) पन्त का 'युगान्त'-चिन्तन।

सम्प्रति गीतिकाव्य की दिशा में दो स्कूल प्रचलित हुए— (१) महादेवी-स्कूल, (२) 'निराला' स्कूल।

इनके अतिरिक्त, सर्वश्री रामकुमार वर्मा और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी गीतिरचना की। 'कुमार' और 'नवीन' के गीत, भावों में अपना कवि व्यक्तित्व रखते हुए, महादेवी-स्कूल के साथ हैं। 'निराला'-स्कूल में 'निराला जी' ही गण्यमान्य हैं।

नई हिन्दी-कविता के प्रवाह से पूर्व, द्विवेदी-युग के कवियों में भी गीतिकाव्य का स्रोत बहता रहा। उस युग के कवियों में गुप्त जी के 'साकेत', 'यशोधरा', 'झनकार' और स्वदेश-सङ्गीत'

के गीत, ठाकुर साहब की सद्यःरचना 'कादम्बिनी' के कतिपय गीत तथा शिवाधार पाण्डेय और मुकुटधर पांडेय के मुक्तकगीत सहृदय-संवेद्य हैं। मध्ययुग में गीतिकाव्य का जो स्रोत सामाजिक परिस्थितिवश अवरुद्ध हो गया था, आधुनिक युग में वह नवीन चेतना द्वारा पुनर्भूत हुआ। भक्ति ने पहले भगवान् को गीताञ्जलि दी थी, अब प्रेम ने मनुष्य को भी भावाञ्जलि दी। गीतों की परिधि विस्तीर्ण हो गई। द्विवेदी-युग में गीतिकाव्य का जो स्रोत प्रच्छन्न था, वह छायावाद-युग में विशेष रूप से प्रत्यक्ष हुआ। छायावाद के विकास-काल में ही गुप्त जी और ठाकुर साहब के गीत भावों की उस अन्तर्वीणा में भी झंकृत हुए जो नवीन कविता के कला-बोध से अनुप्राणित हैं।

हाँ, तो नाटकों-द्वारा नवीन हिन्दी-गीतिकाव्य के रचयिता 'प्रसाद' जी हैं किन्तु उसके सङ्गीत-स्रष्टा पन्त, निराला और महादेवी। गुप्त जी की 'यशोधरा' ठाकुर साहब की 'कादम्बिनी, तथा प्रसाद जी की 'लहर' और 'कामायनी' के गीतों-द्वारा द्विवेदी-युग के गीतिकाव्य का, गीतिकाव्य के नवप्रस्रवित प्रवाह के साथ सम्मिलन हुआ।

गुप्त जी, प्रसाद जी, महादेवी जी, राजकुमार जी, नवीन जी के गीतिकाव्य, सङ्गीत की प्रचलित देसी प्रणाली पर अवस्थित हैं। सूर, तुलसी और मीरा की गीतशैली से उनमें विशेष विभेद नहीं। किन्तु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न संगीत कला भी उपस्थित की और उन्होंने हिन्दी-गीतिकाव्य में संगीत के नवीन प्रयत्न भी उसी प्रकार उपस्थित किये, जिस प्रकार छायावाद की कविता को द्विवेदी-युग की प्रगति से पृथक् बंगाल में टैगोर-स्कूल ने जिस प्रकार गीतिकाव्य में संगीत

के नवीन प्रयोग उपस्थित किये, उसी प्रकार हिन्दी-गीतिकाव्य में पन्त और निराला ने भी।

'ज्योत्स्ना' के नाट्यगीतों के बाद 'युगांत' से (मूलतः गुञ्जन से)पन्त की काव्यधारा बदल गई; वह प्रबन्ध-काव्य की सामूहिक चेतना की भूमि पर भी, छायावाद की ही कला में, मुक्तक-रूप से अग्रसर हुई।

निदान, गीतिकाव्य के क्षेत्र में निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए।

'निराला' के अधिकांश गीतों में उनकी कला, अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है, उतनी अभिव्यक्त के प्रति तन्मयता नहीं। उनका काव्य-पाण्डित्य उनके कवि को सहज नहीं रहने देता। जहां उनमें सहज स्वाभाविक तन्मयता है, वहां उनकी कला अपनी अनुभूति से मार्म्मिक भी हो गई है।

महादेवी के गीत अपनी सहज गतिशीलता, आत्मविस्मृत भाव-विदग्धता और संगति में टेक के बराबर कहानी की-सी स्पन्दनशीलता के कारण सजीव हैं और उन्होंने ही हाल के नवयुवकों को गीतों की भाव-भाषा दी है।

सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, रामशंकर शुक्ल 'हृदय' बच्चन, तारा पाण्डेय, नरेन्द्र, हरेन्द्र देवनारायण, आरसी, केसरी गंगाप्रसाद पाण्डेय, शिवमंगलसिंह 'सुमन' और रामचन्द्र द्विवेदी 'प्रदीप' अच्छे संगीत-कवि हैं। इनके अतिरिक्त भी पत्र-पत्रिकाओं में कभी कभी बड़ी सुन्दर काव्यात्माओं का दर्शन हो जाता है।

(५)

गद्य और कविता में जितना अन्तर है, उतना ही कविता और संगीत में। गद्य में ज्ञान को जितना प्रस्तार दिया जा

सकता है, उतना कविता में नहीं। इसी लिए कविता ज्ञान को लेकर नहीं, भाव को लेकर चलती है। भाव—ज्ञान का आसव है, उसका रस-रूप है। इसी प्रकार गद्य से लेकर संगीत तक ज्ञान क्रमशः सूक्ष्म होता जाता है और संगीत में आकर वह सूक्ष्मतम ही नहीं, 'लय' हो जाता है। लय का अभिप्राय विलीन अथवा संगीत की भाषा में स्वर-मात्र। गद्य का गाढ़ापन काव्य में, काव्य का गाढ़ापन संगीत में तरलतम हो जाता है।

कविता में जब तक भावों का सगीत (रसात्मकता) नहीं रहता, तब तक वह पद्य रहती है; भाव-संगीत लेकर वह पद्य से कविता हो जाती है। और जब कविता में संगीत ही भाव प्रधान हो जाता है, तब वह कविता गायन-मात्र रह जाती है। कविता में संगीत भाव का सहायक रहता है, संगीत में भाव गीत का। गीतिकाव्य बनता है गायन (संगीत) और कविता (भाव) के योग से। कविता में भाव प्रधान होकर रसोद्रेक करता है; संगीत में स्वर प्रधान होकर। संगी का रसोद्रेक विशेष क्षणों का विशेष प्रभाव है। उन क्षणों को चिरञ्जीव कर देने या स्थायी बना देने के लिए गीत के साथ काव्य का भावात्मक सहयोग अपेक्षित रहता है।

गीतिकाव्य में स्वर और भाव का यही सहयोग संगठित हो जाता है। संगीत और कविता का एकाकीपन इसमें पूर्णता प्राप्त करता है। गीतिकाव्य में संगीत, काव्य का अनुवर्ती होकर भी अधिक शक्तिशाली हो जाता है, मानों अमात्य होकर सम्राट् से अधिक क्षमताशाली। यदि केवल गायन ही अभीष्ट हो तो निरे स-र-ग-म के सस्वर आलाप से ही जादू बिखर सकता है। किन्तु जब हम स-र-ग-म को सार्थक करते हैं तब मानो अनि-

अनिवार्य्यत: संगीत के साथ काव्य को सम्बद्ध करते हैं। गीति-काव्य संगीत की सार्थकता की चरम सीमा है।

हमारे यहां गीतकाव्य एक ही विशेष लक्ष्य के लिए प्रस्रवित है। जब वेदान्त के गहन सूत्र अपनी जटिलता के कारण मनीषियों के ही प्रीतिभोज रह गये, तब ब्रह्मानन्द-आस्वाद को संसार तक भी पहुँचाने के लिए कथा-प्रवचन का प्रवर्त्तन हुआ। कथा-प्रवचन सरल-सुबोध होते हुए भी उपदेशमय थे। मानव-मन की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वह जीवन के तत्त्वों को जितना स्वत:स्फूर्त्त होकर हृदयंगम करता है, उतना उपदेश या आदेश से नहीं। उपदेश या आदेश के प्रति उसके मन में श्रद्धा हो सकती है किन्तु उसकी ममता अपने रागात्मक अनुभवों से उपलब्ध रस में अधिक रहती है इसी लिए कहानी की अपेक्षा कविता, प्रवचन की अपेक्षा संकीर्त्तन, ज्ञान की अपेक्षा गान सरसतम होकर उसके मन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। जिस ब्रह्मानन्द-आस्वाद के लिए प्रवचन-प्रवर्त्तन हुआ था, उसी के लिए संकीर्त्तन का भी स्रोत बहा। संकीर्त्तन में गीतिकाव्य सचमुच ब्रह्मानन्द-सहोदर बन गया।

(६)

रविबाबू ने अपनी एक यात्रा-कथा में लिखा है—'अंगरेजी गान जन-समूह में गाने योग्य है, और हम लोगोंका गान निर्जन एकान्त में।' गीतिकाव्य में भी मानव-जीवन का यही एकान्त-क्षण रहता है। संकीर्त्तन में जब समवेत कण्ठ से एक गान गुञ्जरित होता है, तब ऐसा लगता है मानो अनेक एकान्तों के मौन ने एक स्वर में अपने को निवेदित कर दिया है।

गीतिकाव्य मनुष्य के सब्जेक्टिव को जगाता है। 'विजन ! तुम्हारा आज बजे इकतारा'—कवि जब अपने इस विजन को

झंकृत करता है, तब वह गीतिकाव्य की स्वर-लहरियों में समीर की तरह तैरने लगता है। छायावाद की मुक्तक कविताएं भी एकान्त के इसी तन्मय स्वर से प्राणान्वित हैं।

गीतिकाव्य का क्षेत्र यद्यपि संगीतात्मक कविता तक ही सीमित नहीं क्योंकि जहां भाव है वहां स्वतः संगीत है, किन्तु 'गीतिकाव्य' अपने स्वतन्त्र अर्थ में काव्य-कला और संगीत-कला का संयोजक है। इसीलिए वैष्णव कवियों की पदावलियों को तो हम गीतिकाव्य कहते हैं और शृङ्गारिक कवियों के कवित्त सवैयों को मुक्तक-काव्य-मात्र। अंग्रेज़ी में जिसे लीरिक कविता कहते हैं, निःसन्देह प्रथम-प्रथम वह किसी वाद्य-यन्त्र के स्वर में उद्गत हुई होगी और जिस रस का संचार उस वाद्यगान से हुआ होगा उसी रस-संचार के कारण सभी सब्जेक्टिव कविताएं लीरिकल होगई। इस प्रकार लीरिक कविता भावों के एक विशेष व्यक्तित्व को सूचित करती है। गेय-गीत (so g) उस व्यक्तित्व को एक विधि-विहित संगीत भी प्रदान करता है। गीतिकाव्य में गेय-गीत उसी प्रकार अन्तर्भुक्त हो जाता है, जिस प्रकार प्रबन्धकाव्य में गीतिकाव्य का भी अन्तर्हित होना सम्भाव्य है।

हमारे यहां गीतिकाव्य गेय-गीतों में ही प्रकट हुआ था और उसे 'पद' सञ्ज्ञा प्राप्त हुई थी। किन्तु अपने नवीन विस्तार में गीतिकाव्य के अन्तर्गत काव्यमय और संगीतमय दोनों ही प्रकार के काव्य आ जाते हैं। इस प्रकार शृङ्गारिकों और छायावादियों की मुक्तक कविताएं भी इसमें स्थान पा जाती हैं। हां, गीतिकाव्य के स्वरूप-परिचय के लिए हमें यह ध्यान रखना होगा कि उसका भाव-क्षेत्र प्रबन्ध-काव्य से भिन्न है।

लीरिक कविता के वजन पर हमारे यहाँ भी एक शब्द

निर्मित है 'वेणु-काव्य ।' यह शब्द संस्कृति का सूचक है, क्योंकि जिस नटवर ने वेणु बजाया था, सर्व प्रथम उसी के आराधकों ने हिन्दी-गीतिकाव्य को जन्म दिया।

जैसा कि रविबाबू ने कहा है—'अंग्रेजी गान जन-समूह के गाने योग्य है।' कारण, वहां जीवन के जिस रङ्ग-मञ्च पर गान गाया जाता है, उस रङ्ग-मञ्च का दृश्यपट है दैनिक समाज। हमारे यहां उसका दृश्यपट है अनादि प्रकृति। तारागणों के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि में और सूर्य्योज्ज्वल प्रभात में हमारे राग गाये जाते हैं।

प्राचीन आर्य्य-सभ्यता की एक धारा भारत में, दूसरी धारा योरप में बही है। भारत में आर्य्य-सभ्यता अपने मौलिक (आध्यात्मिक) रूप में है, योरप में परवर्ती (भौतिक) रूप में। दोनों के साहित्य और समाज में भी सभ्यता का यही पार्थक्य है। रविबाबू के शब्दों में—'यूरोपियनों के आधिभौतिक व्यवहार से उनका संगीत प्रायः एकमेक हो गया है। उनके नाना प्रकार के जीवन व्यवहारों के समान उनके गायन-सम्बन्धी विषय भी नाना प्रकार के हैं, परन्तु हमारे यहां यह बात नहीं है। यदि हम चाहें जिस विषय के गान बनाकर अपनी राग-रागनियों में गाने लग जायं, तो रागों का प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा और संगीत की दशा हास्यजनक हो जायगी। इसका कारण यह है कि हमारी राग-रागिनियां व्यवहारातीत हैं। नित्य नैमित्तिक व्यवहार उन्हें सार-हीन मालूम होते हैं। इसीलिए वे कारुण्य अथवा विरक्ति जैसी उदात्त भावनाओं को जन्म देती हैं। उनका कार्य आत्मा के अव्यक्त, अज्ञेय और दुर्भेद्य रहस्य का चित्र तैयार करना है।' इसके प्रतिकूल 'जब-जब यूरोपियन गायन से मनोवृत्तियां चञ्चल

हो उठती थीं, तब-तब मैं मन ही मन कहने लगता था, यह सङ्गीत अद्भुत-रस-प्रचुर है, यह जीवन की क्षणभंगुरता को गायन में जमा रहा है !'

भारतीय गीतिकाव्य यदि आज भी रहस्योन्मुख (रहस्यवाद) है तो इसका उसकी मौलिक संस्कृति है। अन्ततः परवर्ती सभ्यता ने भी अपने साम्राज्य-विस्तार के फलस्वरूप इस देश के सामाजिक जीवन में स्थान बनाया, मानो योरप पुनः अपनी आदिभूमि में आ बसा। यहीं से वह गया था और यहीं विदेशी होकर आया ! भूलते-भटकते वह गया था, भूलते-भटकते ही यहां आया। इतने दिनों के साहचर्य्य में भारत ने उस प्रत्यागत को भी अपनाया; साहित्य, सङ्गीत और समाज ने उसके आदान को भी स्वीकार किया।

नाटक

[पदुमलाल पन्नालाल बख्शी]

नाटक शब्द नट् धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रस्तुत होता है! अङ्गरेज़ी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिये संस्कृत में नाटक की अपेक्षा 'रूपक'-शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानों वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीज़र के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानों वह ही .जूलियस सीज़र है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटक में सिर्फ क्रिया-कलापों का ही अनुकरण नहीं होता मनुष्यों की हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी सम्भव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय, तो इसी आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न भिन्न हो जाय। अस्तु, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल-रूप मनुष्यों के अंतर्जगत् में विद्यमान है। बाह्य जगत् में उसका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरे के कार्यों का अनुकरण करता है। इसी को अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नपुण्य प्राप्त करने के लिये विशेष योग्यता की जरूरत है। इसीलिये, यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति सभी में होती है। तथापि, नाट्य-कला में दक्ष होना सबके लिये संभव नहीं।

नाटक और नाट्य-कला में परस्पर सम्बन्ध है। नाटक के लिये नाट्य-कला आवश्यक है। परंतु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अंतःकरण में होती है। बाह्य-जगत् में उसका प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्य-कला का काम है। नाटकों की गणना काव्यों में की जाती है। उन्हें दृश्य-काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंग-भूमि में कवि नहीं आता, तथापि नटों के द्वारा हम उसी की वाणी सुनते हैं। नाट्य-शाला शरीर है और कवि उसकी आत्मा।

नाटक का प्रधान अंग है चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि वह मानव-जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे। परंतु यह विशेषता सिर्फ नाटकों में ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनों में ही मानव-चरित्र का चित्रण रहता है। पर इसमें परस्पर बड़ा भेद है। महाकाव्यों में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। पर उनमें चरित्र-चित्रण गौण होता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इंदुमती की मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है। यह विलाप जैसे आज के लिये है वैसे

ही अन्य किसी भी प्रेमिक के लिये उपयुक्त हो सकता है। प्रियजन के वियोग से जो व्यथा होती है, उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश्य था। इंदुमती की मृत्यु के उपलक्ष्य में कवि ने उसी का वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास दोनों की विशेषतायें रहती हैं। उनमें कवित्व भी होना चाहिये और मनोहरता भी। इसके लिये कुछ नियम बनाये गये हैं। सबसे पहला नियम यह है कि उसमें आख्यान-वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिये। उसी को परिस्फुट करने के लिये उसमें अन्य घटनाओं का समावेश करना चाहिये। यदि नाटक का मुख्य विषय प्रेम है तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अंग होना चाहिये। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनायें नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परन्तु उससे उनका सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिये।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों में स्वभाविकता देखना चाहते हैं, उन्हें कदाचित् अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिन्दू-नाटकों में अलौकिक घटनायें वर्णित हैं। उदाहरण के लिए कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल को ही ले लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यंत का स्मृति,भ्रम, शकुन्तला का अंतर्धान होना, दुष्यंत का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनायें अलौकिक हैं। शेक्स-

पियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिन्दू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है! शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है कि मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिर पर पहुंचाती है और फिर निष्फलता के खन्दक में गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अङ्कित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका सामावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों का विश्वास था अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन-स्रोत एक ओर बहता है। धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पड़ता है।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया जाता है। मनुष्यों के अन्तःकरण में सदा दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म्म और अधर्म्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी-कभी सत्प्रवृत्तियां भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भव-

भूति के उत्तर रामचरित में, रामचन्द्र के दृश्य में, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्त्तव्य है और दूसरी ओर पति का कर्त्तव्य। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इब्सन के एक नाटक—एन एनीमी आफ़ दी पीपुल—में एक मनुष्य संसार की कल्याण-कामना से संसार के ही विरुद्ध लड़ा है। पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किए हैं– प्रसादांत और विषादांत। प्राचीन हिन्दू-साहित्य में दुःखांत नाटक एक भी नहीं है। हिन्दू-नाट्य-शास्त्र के आचार्य्यों की आज्ञा थी कि नाटकों का अन्त दुःख में न होना चाहिये। यदि नायक पुण्यात्मा है, तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता। पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिखलानी चाहिये। अधर्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अधार्मिक न हो जायं। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते; क्योंकि जीवन में प्रायः अधर्म की ही जय देखी जाती है। यदि यह बात न होती, तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म की अन्तिम जय देखने से लोग धार्मिक हो जायं, तो धार्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि संसार में जो धर्म का अनुसरण करते हैं और सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं और असत्पथ पर विचरण करने वाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिये धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं, क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म की पराजय बतलाने से उसकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म, धर्म ही रहता है। दुःख और दारिद्र्य की छाया में रहकर भी पुरुष गौरवान्वित

होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखांत नाटकों की रचना होने लगी हैं। इसमें संदेह नहीं कि कोमेडी की अपेक्षा ट्रेजडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिए नाट्यशालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलता पूर्वक हो सकता है। परन्तु आजकल दुःखांत नाटकों का प्रकार कम हो रहा है। कुछ समय पहले इंग्लैंड में म्यूजिकल कोमेडी का, जिसमें हंसी-दिल्लगी और नाच-गान की प्रधानता रहती है, खूब दौर-दौरा रहा।

हिन्दू-साहित्य शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणोंसे युक्त और निर्दोष अंकित करना चाहिये। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है इससे नाटककार का कार्य-क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किन्तु हिन्दू-साहित्य-शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अंकित करने का जो विधान है उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत-नाटकों में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाए गए हैं। नायकों के चार भेद किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित और धीर-प्रशांत। इन नायकों में भिन्न भिन्न गुणों का प्रदर्शन करते हैं। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मजदूर कैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है पहिले कि तरह वे देशकाल में आबद्ध होकर संकीर्ण विचारों के नहीं होगये हैं। उसमें यथेष्ट स्वतन्त्रता आगई है। पहिले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी उनमें प्रेम घृणा आदि भावों

का जैसा सङ्घर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परन्तु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दामवासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये हमें 'रोमियो-जूलियट, अथवा 'एंटोनी-क्लियापेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौन्दर्य-वृत्ति भी है, जिसमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेली के समान नहीं है, वह बड़ा जटिल होगया है। 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' नामक उपन्यास में एक खूनी का चरित्र अङ्कित किया गया है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता है कि वह खूनी दानव है या देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि यदि उसे हम हत्याकारी मानें, तो भी हमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। 'जार्ज मेरिडिथ के दी इगोइस्ट' नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था; यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबू के 'घरे-बाहिरे' नामक उपन्यास में संदीप जैसा इन्द्रियपरायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इब्सन मेटरलिक अथवा रवीन्द्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं, परन्तु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।

अंग्रेजी नाटककार बर्नार्ड शा के आते ही इङ्गलैण्ड की

रङ्गभूमि पर मनोविज्ञान की छाया पड़ने लगी है। समालोचना तो ऐसे नाटक चाहते हैं, जिनमें कठिन समस्यायें हों, जिनका अन्तर्गत भाव देखने के लिये उन्हें छिन्न-भिन्न करना पड़े। शा ने उन्हें वैसे ही नाटक दिए और उन समालोचकों ने उनकी कीर्ति खूब फैलाई। बर्नार्ड का नाम पहले-पहल उनके श्रव्य-काव्यों से हुआ। पीछे उन्होंने दृश्य-काव्यों की रचना में मन लगाया। युद्ध के पहिले कुछ नाटककार यह समझने लगे थे कि अब नाटकों को अधिक आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। इसलिये १९१४ में इङ्गलैंड में एक ऐसी नाट्य-शाला स्थापित हुई, जिसमें म नव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय। उसका अभी शैशवकाल है, तो भी अन्य प्रचलित नाट्यशालाओं की अपेक्षा उसमें अधिक सजीवता आगई है। युद्ध के पहिले नाट्य-साहित्य का यही हाल था।

नाटक सभी काल और सभी देशों में लोक-प्रिय होते हैं। कालिदास का कथन है "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।" अब तो नाटक जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण और भी अधिक लोक-प्रिय होगये हैं। लंदन आधुनिक सभ्यता का एक केन्द्र-स्थान है। वहां सैकड़ों नाट्य-शालायें हैं। हजारों लोगों का जीवन-निर्वाह उसी से होता है। सभी नाटक-घर सभी समय भरे रहते हैं। कुछ ऐसी नाट्य-शालायें हैं, जहां दिन और रात में दो बार एक ही नाटक खेला जाता है। कहीं कहीं तो एक ही नाटक दो वर्ष तक खेला जाता है।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलने वाले नटों व नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं, उच्च कुल के स्त्री-पुरुष भी नाट्य-कला में प्रवीणता

प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते थे। उन्हें अभिनय-कला की शिक्षा देने के लिए योग्य शिक्षक नियुक्त लिए जाते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटक-कला का पुनरुद्धार हो रहा है।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं, तब यहां की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। वहां विदेशी दृश्यों की नकल तो जरूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढंगा रहता है कि योरप की छोटी छोटी नाट्यशालाओं में भी इतना परदे रंगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं। परन्तु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञता के कारण जनता उन्हीं से संतुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेष-भूषा। जो लोग राजा, सामंत, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गए होंगे। गनीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिये भारतीय पर चेहरे नट पाउडर लगाकर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे में सफेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है?

भारतीय रंगमंच के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्त्व घट जाता और उनका उद्देश्य निष्फल हो जाता है। इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिये। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसी के अनुरूप दृश्य दिखाये जांय। भारतीय रंगभूमि में जब किसी सड़क

अथवा महल का दृश्य दिखाया जाय, तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा-भाग सुनकर अपने मन ही में दृश्यों की कल्पना कर लें। प्राचीनकाल में जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिये उचित वेष-भूषा तैयार करने के लिये योग्यता की जरूरत नहीं है। जरा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ में आ सकती है कि किस के लिये कौन सा परिच्छद प्रयुक्त है। परन्तु आजकल तो सभी नाटक-मंडलियां अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेज़ पहना कर, झड़कीले कोट को डटाकर निकालना चाहती हैं। नकली दाढ़ी और मूंछ से चेहरे को विकृत करना इसलिये आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें।

हिन्दी के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौके वे मौके अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे, राजमहिषी तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने-गाने लग जाती हैं। राज-सभा तो बिलकुल संगीतालय ही हो जाती है। यह भी खेद की बात है।

कहानी

(लेखक—श्री प्रेमचन्द जी)

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास, आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो सुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनायें आपको वहां मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष्य है ! थोड़े से स्वार्थ के लिये भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है'। उसे पढ़ कर मन में ग्लानि होती है, आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वहीं सत्य है साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में

वह अपनी ही आलोचना किया करता है,—अपने ही मनो-रहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इस लिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे अध्यात्म और दर्शन की भांति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है' अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसी लिए, अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है। आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आज-कल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में, समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या आध्यात्म विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या है? बाइबिल में भी दृष्टांतों और आख्यायिकाओं के द्वारा धर्म के तत्व समझाए गए हैं।—सत्य इस रूप में आकार साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है,

मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते,—जब तक कि वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों के पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हंसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि, कहानी पढ़कर वह लोग भी रोते या हंसते देखे जाते हैं जिन पर साधारणतः सुख दुख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होती वे लोग भी उपन्यास के मर्म-स्पर्शी स्थलों पर पहुंच कर रोने लगते हैं।

शायद, इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुंच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है, और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है!

कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं! उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दण्ड भी जीवन के माप-दण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है; उसके सुख-दुख, हानि लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम; कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत है और परिमित होने के

कारण सम्पूर्णत: हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जब तक कि मानव न्याय बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, पर वह भ्रांति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है। अनेक कारणों से जीवन की अनेक धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जी-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादायें बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी हम आगे क़दम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जब तक कि उसमें कुछ नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य, पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई न कोई चीज चाहता है, - चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहां या तो यह इच्छा उठी ही नहीं या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा, उसे नवीनता की भूख थी और मर्यादा की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की,

असंतोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की, छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रांति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं, पर, आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो पर शैली तो बिल्कुल ही बदल गई। अलिफ़लैला उस वक्त का आदर्श था, उसमें बहुरूपता वैचित्र था, कुतूहल था, रोमान्स था,—पर उसमें जीवन की समस्यायें न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गए।

मगर सौ वर्ष पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ परियों और भूतों की कहानियां लिखी जाती थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर या उससे भी कम में समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अङ्गों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी जमाने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है, और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के न जाने कितने महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालजक, मोपाँसाँ

चेख़ाफ, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पच्चीस तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों,—यहां तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियां दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन—संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने—ख़याल' लेकर बैठ जाँय और सारे दिन उसी के कुञ्जों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय होगए हैं कि हमें मनोरञ्जन के लिए समय ही नहीं मिलता; अगर कुछ मनोरञ्जन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अट्ठारह घण्टे काम कर सकते तो शायद हम मनोरञ्जन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है; हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक मनोरञ्जन हो जाय, इसीलिए, सिनेमा गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनो लगते उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किए रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो; कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से मनोरञ्जन भले ही हो जाय, पर मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन,

विचारों को उत्तेजित करने के सुन्दर भावों को जागृत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से, मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति में से एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु-पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है,—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक तैयार हो जाता है; उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है, हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश, कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्यायें नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्य-वादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन

सिद्धान्तों की हत्या कर डालें? कितना भीषण द्वन्द्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा मांगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भांति कहानियां भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊंचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विश्लेषण की गुञ्जाइश नहीं होती। यहां हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन, उसके चरित्र का अङ्ग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी भी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलने वालों को जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला-कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी लेखकों की रचनाएं हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी

कहानी-लेखकों में विषय, दृष्टि-कोण और शैली का अलग अलग विकास होने लगा है,—कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिये स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग की आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एक तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गयी है। लेखक को जो कुछ कहना है वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो सभाषणों में एक एक-दो शब्दों से ही काम निकाल लेता है। ऐसे कितने हो अवसर होते हैं जब पात्र के मुंह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं,—पूरे वाक्य की जरूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास में नहीं लगाते, हम चाहते हैं, पात्रों की गति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्व ही नहीं रहा। उनका महत्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है, उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहनी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और उसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

समालोचना

समालोचना शब्द आज साहित्य-क्षेत्र में काव्य नाटक उपन्यास आदि कृतियों की गुण दोष परीक्षा, प्रभाव तथा महत्व की विवेचना, मान एवं मूल्य निर्धारण आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। शास्त्रीय-पद्धति से समालोचना का क्षेत्र सीमित होने पर भी सामान्य प्रयोग में आलोचना का अर्थ काव्य कृति को प्रकाश में लाना और उसका मूल्याङ्कन करना ही है। जिस प्रकार सूर्य का आलोक हमें वस्तु गत सौन्दर्य का दर्शन कराकर उसे प्रकाश में लाता है, उसी प्रकार आलोचना द्वारा आलोचक कवि या लेखक की रचना की विशेषताएं प्रदर्शित करके उसे सामान्य पाठक के लिए सुबोध और सुस्पष्ट बनाता है! आलोचना साहित्य में सौन्दर्य का अस्तित्व खोज निकालती है; उसमें अन्तर्निहित गूढ़तम भावनाओं, विविध रसों, उसके नाना रूपों और शैलियों का पता देती है। साहित्य में प्राण प्रतिष्ठा करना और उसे स्थायी बनाने में भी समालोचना का सबसे अधिक योग रहता है! संसार के महाकवियों को अमर और शाश्वत बनाने में आलोचकों का जो प्रभाव रहा है वह किसी से छिपा नहीं।

समालोचना के विषय में प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियों का मत पाश्चात्य साहित्यकारों से कुछ भिन्न है। पाश्चात्य देशों में समालोचना शब्द से रचना के सिद्धान्त, गुण दोष, मनोविज्ञानिक विश्लेषण, अन्तर्प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन, मूल्याङ्कन तथा प्रभाव आदि का ग्रहण होता है। भारतीय प्राचीन विद्वानों ने उसे समालोचना कहा है जो कृतिगत विषय

की व्याख्या, गुण दोष दर्शन तथा टीका-टिप्पणी द्वारा कृति के अर्थ या बिम्ब का भली भाँति ग्रहण करने में पाठक की सहायता करे। पाश्चात्य आलोचकों ने आलोचना शब्द के गाँभीर्य को ध्यान में रखकर इसके भेद भी किये हैं। परिचय मात्र देकर पुस्तक के विषय का आभास देने वाली समीक्षा को 'रिव्यू' तथा अन्तर्प्रवृत्तियों के सूक्ष्म विवेचन के साथ प्रभाव एवं मूल्य निर्धारण करने वाली आलोचना को 'क्रिटिसिज्म' कहते हैं। हिंदी साहित्य में 'रिव्यू' और 'क्रिटिसिज्म' का सूक्ष्म भेद प्रयोग में नहीं आता। सभी प्रकार की समीक्षा 'समालोचना' शब्द से व्यवहृत होती है।

'सम्' और 'आ' उपसर्गों के योग से 'लुच्' धातु (देखना,) से 'समालोचना' शब्द बना है। इसी 'लोचन' शब्द—सम्यक् देखने को ध्यान में रखकर प्राचीन आचार्यों ने अपने साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का नामकरण किया था। अपने उन ग्रन्थों को जिनमें साहित्यशास्त्र की परिपाटियों तथा नियमों की व्याख्या हो, प्राचीन आचार्य 'प्रकाश' 'आलोक' 'दर्पण' आदि नामों से व्यवहृत करते थे। स्वतंत्र रूप से किसी काव्य या नाटक की समीक्षा लिखना प्राचीन आचार्यों को अभीष्ट न था अपने लक्षण ग्रन्थों में ही उदाहरण प्रस्तुत करके काव्यादि की आलोचना उन्हें अभीष्ट थी। कुछ आचार्य टीका-टिप्पणी करके ही अपनी समीक्षा को समाप्त कर देते थे।

समालोचना की प्राचीन पद्धतियां

प्राचीन साहित्याचार्यों की विवेचना की समीक्षा की कोटि में स्थान देते हुए विद्वानों ने चार भागों में रखा है। (१) टीका पद्धति, (२) तर्क पद्धति, (३) सूक्ति पद्धति और (४) लोचन या प्रकाश पद्धति।

टीका-पद्धति द्वारा जो आलोचना हमें प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होती है वह समीक्षा या आलोचना की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखती। कवि के भाव को सुस्पष्ट करने के साथ संस्कृत विद्वान् टीकाकार के स्थान स्थान पर काव्य के गुण-दोषों पर भी टिप्पणी लिखने से न चूकते थे। व्याख्या के साथ ही काव्यगत रस, अलङ्कार रीति तथा व्यञ्जना का भी यथास्थान उल्लेख मल्लिनाथ आदि टीकाकारों में हमें प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। हिन्दी में श्री पद्मसिंह शर्मा की बिहारी सत सई की टीक तथा जगन्नाथदास रत्नाकर का 'बिहारी रत्नाकर बहुत कुछ इसी कोटि में आते हैं। तुलनात्मक दृष्टि की प्रधानता के कारण शर्मा जी की रचना का क्षेत्र कुछ अधिक व्यापक होगया है।

'तर्क पद्धति' का प्रयोग प्रायः उन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया जो अपने पूर्ववर्ती लेखकों के मन्तव्यों तथा सिद्धान्तों से मतभेद रखते थे। तर्क, युक्ति और प्रमाण द्वारा इन परवर्ती आचार्यों ने पूर्व स्थापित सिद्धान्तों का सैद्धान्तिक खण्डन किया और अपने सिद्धान्तों की स्थापना की। इस प्रकार के ग्रन्थों में पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष की प्रणाली का प्रयोग है और पूर्व पक्ष की सुन्दर शैली से स्थापना इसका वैशिष्ट्य है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक' मम्मट का 'काव्य प्रकाश' 'रसगङ्गाधर' तथा 'व्यक्ति विवेक' इस पद्धति के सुन्दर निदर्शक हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत ही खंडन-मंडन की शैली भी दृष्टिगत होती है। कुछ आलोचक तर्क को प्रधानता न देकर अपनी रुचि को प्रधानता देते हैं और अपनी रुचि के आधार पर ही कृति की निन्दा या प्रशंसा के पुल बांध देते हैं। काव्यगत सुन्दर विषयों तथा सिद्धांतों का खंडन

करना, उसमें व्यर्थ ही दोष ढूंढ़कर उसे दोषी ठहराने की प्रक्रिया पक्षपात से पूर्ण आलोचकों मे देखी जाती है। इस प्रकार दोष दर्शन की प्रवृत्ति, कतिपय अर्वाचीन हिन्दी लेखकों में भी है। इस प्रवृत्ति से लिखी गई आलोचना कभी सहृदय पाठक को रुचिकर और अभीष्ट नहीं होती।

'सूक्ति पद्धति' एक ऐसी पद्धति है जो अपने भीतर स्तुति निन्दा के बीज छिपाये हुए विद्वान् भावुक से लेकर साधारण भावुक पाठक तक अपने लिए, अनुश्रुति की परम्परा द्वारा, स्थान कर लेती है। इस पद्धति का शास्त्र-सम्मत तथा सैद्धान्तिक मूल्य भले ही अधिक न हो किन्तु परम्परा द्वारा जनश्रुति में आकर यह 'सूक्ति' बन जाती है। फलतः टकसाली सिक्के की भांति इसका प्रचार एक से दूसरे तक होता रहता है और यह परम्परा द्वारा ही स्थिरता तथा मान्यता पा लेती है। 'उपमा कालिदासस्य' और 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' आदि इसी प्रकार की सूक्तियां हैं जो एकाङ्गी और अपूर्ण होने पर भी शताब्दियों से पाठक और श्रोता को प्रभावित करती रही हैं। हिन्दी में 'सूर सूर तुलसी ससी' आदि उक्तियां भी ठीक इसी के अनुकरण पर प्रशंसापरक शैली में निर्मित हुई। 'सूक्ति पद्धति' की आलोचना हमारी दृष्टि में 'स्तुति-निन्दा' तक ही सीमित रह कर संक्षेप में कृति के गुण-दोष-कथन की प्रणाली है। इस पद्धति द्वारा काव्य-कृति पर प्रकाश कम और अभिलषित रंग अधिक पड़ता है। कभी कभी पक्षपात के कारण भी इस प्रकार की सूक्तियां प्रचार पा जाती हैं। यथार्थ में इनके आधार पर काव्य की सम्यक् आलोचना या मूल्याङ्कन नहीं करना चाहिए।

'लोचन या प्रकाश-पद्धति' संस्कृत साहित्य की सबसे अधिक प्रामाणिक एवं पांडित्यपूर्ण पद्धति है। इस पद्धति को

यदि दो भागों में विभक्त करके रखा जाय तो विषय को हृदयंगम करने में सरलता होगी। लोचन-पद्धति का पहला पक्ष है 'लक्ष्य ग्रन्थों को आलोच्य मान कर लक्षण ग्रन्थों में उनके उदाहरण उपस्थित करते हुए समीक्षा करना।' इस प्रकार की समीक्षा में लेखक आचार्य कोटि में रहता है और स्वयं लक्षण की कसौटी उपस्थित कर उस पर लक्ष्य ग्रंथों को खरा-खोटा सिद्ध करता है। संस्कृत साहित्य के मध्ययुगीन लक्षण ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' 'काव्य मीमांसा' 'साहित्य दर्पण' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। हिन्दी में भी इस आचार्य-पद्धति पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है।

इस पद्धति का दूसरा रूप है 'लोचन' या सम्यक् दर्शन-पद्धति। प्राचीन युग में इस पद्धति का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हुआ। आचार्यों ने साहित्य शास्त्र के लक्षणों को अधिक मान्यता देकर काव्यों की आलोचना को गौण बना दिया। फिर भी अभिनवगुप्तपादाचार्य जैसे विद्वानों ने 'ध्वन्यालोक' की विशद व्याख्यालोचन में इस पद्धति का सुन्दर आदर्श उपस्थित किया। यदि परवर्ती विद्वान् इस शैली को स्वीकार करके लक्षण ग्रन्थों का विस्तार करते तो निस्सन्देह सूक्ष्म दर्शन तथा अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति हमारे साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक आ जाती। साथ ही रचना को केन्द्र विन्दु बना कर कलाकार, उसकी कृति, उसकी परिस्थिति—देश काल आदि पर भी दृष्टि निक्षेप करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती—किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इस प्रकार की व्यापक दृष्टि तो हमें पाश्चात्य साहित्य से ही उपलब्ध हुई है। पाश्चात्य देशों में समीक्षा-पद्धति का जो रूप प्रयोग में आता है वही आधुनिक युग में हिन्दी-समालोचना का है।

आलोचना की आधुनिक पद्धतियां—

काव्यादि को पढ़कर उसका अपनी रुचि के अनुसार प्रभाव कथन—(**प्रभाववादी**, साहित्य के विभिन्न रूपों का विवेचन तथा सिद्धान्तों की स्थापना (**सैद्धान्तिक**), रचना के आशय के स्पष्टी करण के साथ विश्लेषण, वर्गीकरण की प्रवृत्ति (**व्याख्यात्मक**), सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्व का निर्णय किया जाय वह (**निर्णयात्मक**), दो या अनेक कृतियों की परस्पर तुलना (**तुलनात्मक**), तथा ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर कृति की मीमांसा करना(**इतिवृत्तात्मक**) आलोचना कहाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् मनोवैज्ञानिक आलोचना को स्वतन्त्र स्थान भी देते हैं किन्तु इस प्रकार की आलोचना का व्याख्यात्मक पद्धति की आलोचना में अन्तर्भाव हो जाता है। उपर्युक्त आलोचना पद्धतियां भी एक दूसरे में दीखती हैं किन्तु स्पष्टीकरण की दृष्टि से पृथक २ नाम संकेत किया गया हैं।

प्रभाववादी आलोचना का मेरु दंड भावक या आलोचक की अपनी रुचि तथा भावना है। किसी कृति को पढ़कर भावक के अन्तर्मन पर जो प्रभाव अङ्कित होता है उसे अपनी शैली से लिख देना ही प्रभाववादी आलोचना का मूल है। व्यक्तिगत रुचि के साथ ऐसी आलोचना में भावना तत्व का प्राधान्य रहता है और बुद्धितत्व की अपेक्षाकृत न्यूनता पाई जाती है। इस प्रकार की आलोचना पद्धति में विश्वास करने वालों का कथन है कि किसी कृति के विषय में यह कहना नितान्त आवश्यक है कि उसका पाठक पर क्या प्रभाव पड़ा—वह उसे अच्छी लगी

या बुरी। इस आलोचना में विषय वस्तु को प्रधानता नहीं दी जाती। भावक की रुचि का मुख्यता रहती है। इसे Subjective criticism भी कहते हैं।

सैद्धान्तिक आलाचना—साहित्य के स्वरूपनिर्धारण तथा विश्लेषण में जिन सिद्धान्तों का प्रयोग करके समालोचक नियम बनाते हैं वे नियम या सिद्धान्त ही सैद्धान्तिक आलोचना कहाते हैं। प्रायः संस्कृत साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ इसी पद्धति के हैं। भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' दण्डी का 'काव्यादर्श' मम्मट का 'काव्य प्रकाश' विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' और पंडितराज जगन्नाथ का 'रस गंगाधर' इसी कोटि में आते हैं। पाश्चात्य देशों में भी काव्य, नाटक, उपन्यास आदि की कसौटी बनाने वाले ग्रन्थ इस प्रकार की समालोचना के अंग हैं। हिन्दी में डा० श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचना' रामदहिन मिश्र का काव्यालोक तथा काव्य दर्पण, तथा सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजना वाद' सैद्धान्तिक समालोचना के ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में काव्यालोचन के विविध रूप तथा प्रकारों की मीमांसा तथा गवेषणा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार की आलोचना को अंग्रेजी में Speculative criticism कहते हैं।

निर्णयात्मक आलोचना विद्वानों द्वारा स्थापित सिद्धांतों के आधार पर जब किसी साहित्यिक कृति की आलोचना की जाय और उन सिद्धान्तों के आधार पर ही उसे हेय या उपादेय कहा जाय, वहां निर्णयात्मक आलोचना का प्रयोग समझा जायगा। यथार्थ में सैद्धान्तिक आलोचना का इस प्रकार की आलोचना में व्यावहारिक प्रयोग होता है। इस पद्धति की समालोचना लिखते समय आलोचक न्यायाधीश के रूप में आकर कृति के

पक्ष या विपक्ष में अपना निर्णय देता है। जिन शास्त्रीय सिद्धान्तों को वह कसौटी मानता है यदि उस पर कृति खरी नहीं उतरती तो निश्चय ही विपक्ष में फैसला देकर वह मूल्य निर्धारण का कार्य भी कर देता है। इस प्रकार की समीक्षा प्रायः एकाङ्गी और कभी २ भ्रम पूर्ण होने से सामान्य पाठक के लिए हानिकर होती है। केवल नियमों के आधार पर काव्य का परख आधुनिक युग में विद्वानों को अभिप्रेत नहीं है। शास्त्रीय मर्यादा के साथ रहते हुए भी जो आलोचक स्वतन्त्र रूप से निर्णय देते हैं उनकी प्रतिष्ठा सिद्धांतों की लीक पीटने वाले आलोचकों से अधिक है। अंग्रेजी में इसे Judicial criticism कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी बुराई यह है कि इस पद्धति में जिन लक्षण ग्रन्थों को आधार बनाया जाता है या जिन नियमों को निर्णय करने के लिए कसौटी माना जाता है वे प्राचीन होते हैं और नवीन युग की रचनाओं का उन नियमों द्वारा भली भांति निर्णय तथा न्याय नहीं होता। प्रगति वादी दृष्टिकोण के आलोचक इस प्रकार के नियमों से दूर रहकर स्वतन्त्र रूप से निर्णय देने की बात प्रायः इन सिद्धान्तों से तंग आकर ही कहते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना—किसी साहित्यिक रचना की विशद व्याख्या करके जब हम उस कृति के महत्व का निर्णय करते हैं तब इस पद्धति की आलोचना का क्षेत्र आता है। रचना का यथार्थ स्वरूप भावक को तभी विदित होगा जब वह उसका सर्वाङ्गीण विश्लेषण एवं व्याख्या करेगा। बिना विशद व्याख्या के वस्तु स्थिति का हृदयंगम करना कठिन है। डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में—'इस प्रकार की समालोचना व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठ ठहराई जाती है।

समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है न्यायाधीश के रूप में नहीं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुंचता है तथा इस बात का पता लगाता है कि इसका विषय क्या है। रचयिता के ढङ्ग, दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्ण अपने मस्तिष्क का सामञ्जस्य करके वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है।" निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक आलोचना का स्पष्ट भेद यह है कि निर्णयात्मक पद्धति में शास्त्रीय नियमों की प्रधानता देकर उन्हें प्रगतिशील बना दिया जाता है किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना में नियम प्रगतिशील नूतन दृष्टिकोण को लेकर व्यापक बने रहते हैं। हिन्दी में व्याख्यात्मक शैली के सबसे प्रमुख आलोचक श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं। उन्होंने तुलसी, जायसी, सूर आदि कवियों पर इसी शैली से सुन्दर समालोचनाएं लिखी हैं।

तुलनात्मक आलोचना—इस कोटि की समालोचना का केन्द्र दो या अधिक रचनाओं में तुलना करना है। किसी एक को श्रेष्ठ कहना इसका परिणाम होता है। तुलना के लिए सम सामयिक रचना के साथ प्राचीन तथा अन्य भाषाओं की रचनाएं भी स्वीकृत हुई हैं। कालिदास और शेक्सपीयर बिहारी और देव, कालिदास और भवभूति, देव और बिहारी आदि तुलनात्मक समालोचना के उदाहरण हैं।

ऐतिहासिक अलोचनाओं— का यद्यपि साहित्यिक मूल्य उतना नहीं है किन्तु इतिहास के आधार पर कुछ रचनाओं

की आलोचना की गई है। 'प्रसाद के दो नाटक' इसी प्रकार की ऐतिहासिक समालोचना है। ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से 'रासो' आदि प्राचीन ग्रन्थों का अच्छा मंथन हुआ है। किसी कवि या लेखक के जीवन वृत्त की शोध इस कोटि मे आती है। गो० तुलसीदास, सूरदास तथा कबीर के विषय में इस प्रकार की आलोचनाओं से उनके काव्य पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। कवि की पारिवारिक परिस्थितियों से उसकी मनोदशा का बोध और उसकी भावनाओं के विकास का क्रम ज्ञात होता है। अतः ऐतिहासिक आलोचना भी उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती।

इन पद्धतियों के अतिरिक्त आज के प्रगतिवादी लेखकों ने आलोचना को नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर भी इस युग में आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं। मार्क्स और फ्राइड के प्रभाव में भी आलोचना की रूप रेखा में नूतनता आई है किन्तु इन समस्त परिवर्तनों को हम उपर्युक्त पद्धतियों में ही स्थान दे सकते हैं।

आलोचक की क्षमता

समालोचना के उद्देश्य से कलम उठाने वाले आलोचक में एक विशेष प्रकार की क्षमता का होना आवश्यक है। जिस विषय की वह आलोचना करने चला है उस विषय का पूर्ण ज्ञान उसे होना चाहिए। विषय-बोध के बिना निर्णय देना या मूल्याङ्कन करना आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा मर्यादा का उल्लंघन है। दूसरी बात जो आलोचक के धर्म में आती है वह है उसका निष्पक्ष-भाव। आलोचक को आलोचना के समय सिद्धान्तों को तथा परिपाटियों को ही आधार बनाना

चाहिए व्यक्तिगत राग-द्वेष या पक्षपात को नहीं। जब आलोचक पक्षपात की सीमा में आकर आलोचना लिखने बैठता है तब उसे कवि के गुण भी दोष और दोष भी गुण दीखने लगते हैं। यदि रचना के प्रति ईर्ष्या भाव है तो गुण ग्राहकता कहां होगी ? अतः आलोचक का निष्पक्ष तथा गुणग्राही होना नितान्त आवश्यक है। तीसरी बात जो आलोचक में होनी उचित है वह यह है कि उसे जो कुछ अपनी आलोचना में कहना हो रचना को केन्द्र बिन्दु मान कर ही कहना चाहिए। व्यक्ति विशेष को लक्ष्य बना कर रचना की उपेक्षा आलोचक की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं होती। कुछ आलोचक समालोचना लिखते लिखते रचना को भूल कर रचयिता पर प्रहार करने लगते हैं और विषय से हट कर व्यक्ति पर पहुंच जाते हैं। समीक्षा क्षेत्र में यह प्रवृत्ति निन्द्य तथा हेय समझी जाती है। कभी २ यह प्रवृत्ति रचयिता की निन्दा को लक्ष्य बनाती है और कभी स्तुति को, किन्तु दोनों ही प्रकार की दशाएं त्याज्य हैं।

शब्द-संयम आलोचक की चौथी आवश्यकता है। शब्द-संयम का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। एक तो आलोचक को उतने ही शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जितने अनिवार्य रूप से आवश्यक हों तथा दूसरी बात है शब्दों में शिष्ट तथा सभ्य भावना की। यदि अशिष्ट प्रयोग करके आलोचना लिखी गई तो उसका मूल्य कम होगा और विद्वत्समाज में वह हल्की पड़ेगी। यदि आलोचक शब्द संयम रखेंगे तो कोरी वाह वाही तथा शाबाशी का दौर न चलेगा तथा आलोचना गम्भीर और उपादेय समझी जायगी।

आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले लेखकों को साहित्य शास्त्र का अध्ययन सबसे अधिक आवश्यक है। भारतीय

तथा पाश्चात्य दोनों शैलियों से लिखे गये आलोचना शास्त्रों का मनन किये बिना आलोचना में प्रवृत्त होना श्रेयस्कर नहीं होगा।